Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संयुक्तांक

वर्ष 33, अंक 2 जुलाई-दिसम्बर, 2019
वर्ष 34, अंक 1 जनवरी-जून, 2020

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संयुक्तांक

वर्ष 33, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2019
वर्ष 34, अंक 1 जनवरी–जून, 2020

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह**, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी**, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य**, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे**, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. **सम्पादकीय :** कोरोना संकट की आड़ में साभ्यतिक बदलाव की आहट 5
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

2. अतिरेकों के युग में गाँधी और उनकी अहिंसा 13
विश्वनाथ मिश्र

3. सौगत प्रामाण्यवाद 29
अम्बिका दत्त शर्मा

4. भाषा एवं अर्थ : प्लेटो से विटगेंस्टाइन तक 42
अशोक वोहरा

5. लोकायनवाद : प्रोफेसर संगमलाल पाण्डेय का समाज–दर्शन 73
अमित कुमार मिश्र

6. आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार कांट के दर्शन का तात्पर्य (3) 91
अरविन्द कुमार राय

7. स्वसंवेदन 97
मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : वृजकिशोर त्रिपाठी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्पादकीय

कोरोना संकट की आड़ में साभ्यतिक बदलाव की आहट

अम्बिकादत्त शर्मा, प्रदीप कुमार खरे

आज समूची दुनिया कोविड–19 नामक महामारी की चपेट में है। महामारियाँ तो पहले भी आती रही हैं और मनुष्य अपना बचाव करने में सफल भी होता रहा है। आशा है, इस बार भी कोरोना हारेगा और मनुष्य की जीत होगी। परन्तु हारा हुआ कोरोना इस बार जाते–जाते इतना तो जरूर कहता जायेगा कि मैं आधुनिक सभ्यता का वायरस हूँ और मेरे फलने–फैलने की बेशुमार सुचालकता उसकी रगों में है। अब यह मानव–जाति के विवेक पर निर्भर करता है कि वह आधुनिक सभ्यता के व्यामोह से निजात पाने का विकल्प ढूँढ़ेगा या फिर उसी के एक आभासी आयाम (वर्चुअल डायमेन्सन) को विकसित कर लेगा जो मेरी संक्रामक शक्ति की पकड़ से बाहर हो।

कोरोना वायरस की यह चेतावनी काल्पनिक ही सही लेकिन जायज है, क्योंकि इससे फैली यह महामारी वैसी नहीं जैसी कि पहले की महामारियाँ होती थीं। यह कई मायने में बिलकुल अलग प्रकार की है। इससे पहले की महामारियों को निरपवाद रूप से प्राकृतिक अशुभ (नेचुरल इविल) माना जाता था, लेकिन इसके पीछे ऐसी आशंका जतायी जा रही है कि यह नैतिक अशुभ (मोरल इविल) है। सम्भव है कि यह किसी दुष्ट मानवीय चेष्टा की सोची–समझी कारगुजारी हो। पहले की महामारियाँ तीव्र गति से मनुष्य को मृत्यु के कराल गाल में झोंक देती थीं और उनके फैलने की गति धीमी होती थी। परन्तु कोरोना वायरस मनुष्य को धीरे–धीरे मारता है और इसके फैलने की रफ्तार बहुत तेज है। यह जबकि वायुमण्डल पर सवार होकर बहुत दूर की यात्रा करने में सक्षम नहीं। पहले की महामारियाँ

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अक्सर गन्दी बस्तियों से फैलती थीं, क्योंकि गाँव–देहात का जीवन हाइजेनिक नहीं हुआ करता है, परन्तु कोविड–19 महानगरों से फैली महामारी है।

मनुष्य के मन–मस्तिष्क पर इसकी प्रभावमत्ता इतनी अधिक है कि विश्व इतिहास में सम्भवतः यह पहली घटना हो जिसका संज्ञान पूरी दुनिया भर में एक साथ लिया गया है। किसी घटना का वैश्वीय स्तर पर संज्ञान में लिया जाना एक प्रकार की वैश्वीय एकजुटता को प्रदर्शित करने वाली पहल होती है। परन्तु यह कैसी विडम्बना है कि वैश्वीय एकजुटता की इस संज्ञानात्मकता में अन्दर ही अन्दर प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अलग–थलग रहने के लिए विवश कर दिया गया है। हर एक आदमी अपनों और परायों से डरा हुआ है कि मैं अनजाने में संक्रमित न हो जाऊँ। सामाजिक दूरी बरतने के नाम पर यह मनुष्य का मनुष्य से बहुत बड़ा अलगाव–बिलगाव है। पता नहीं, विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिमाग में समाज की कैसी अवधारणा है जिसके चलते सामाजिक दूरी शब्द का इस्तेमाल कर दिया गया और बहुत अधिक प्रचलन में आ गया। जबकि होना चाहिए था – सम्पर्क दूरी। भारत के सन्दर्भ में तो सामाजिक दूरी शब्द बहुत ही विवादास्पद है। परन्तु सम्पर्क दूरी भी तो अन्ततः सामाजिक दूरी को बढ़ा ही देती है।

वस्तुतः भौतिक सम्पर्क के जाल को काट देने के लिए ही दुनिया भर में एक हद तक वैसे सभी संसाधनों, संस्थानों और उपक्रमों को लॉक डाउन करना पड़ा है जिनके माध्यम से मनुष्य एक दूसरे से अथवा दुनिया के एक बड़े हिस्से से सम्पर्क साधता है। इससे एक बात जो बहुत स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह कि परोक्ष–अपरोक्ष भौतिक सम्पर्क की सघनता और विस्तार ही आधुनिक सभ्यता की जीवन शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। महात्मा गाँधी के बरक्स कहें तो अपने वैयक्तिक अहं में कैद रहते हुए अपने शरीर के हद को पार कर आदमी इस परोक्ष–अपरोक्ष भौतिक सम्पर्क को जितना विस्तारित कर पाता है उतना ही वह आधुनिक जीवन शैली का सक्रिय भागीदार बनता है। आज की परिभाषा में तो जीवन के उन क्षेत्रों को पिछड़ा माना जाता है जहाँ भौतिक सम्पर्क के विस्तार की परिधि अपेक्षाकृत कम होती है। परन्तु देखने लायक बात यह है कि यह महामारी भी उन्हीं भौतिक सम्पर्क–सूत्रों पर सवार होकर पूरी दुनिया में फैली है। इतना ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं, मनुष्य के जीवन की आधुनिक बुनावट में जहाँ भौतिक सम्पर्क के सूत्र जितने सघन हैं, इस महामारी का प्रकोप भी वहाँ उतना ही अधिक है। नगरीय, महानगरीय और ग्रामीण इलाकों में कोरोना संक्रमण का जो अन्तर है उसके पीछे का कारण यही भौतिक सम्पर्क की सघनता है। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि कोविड–19 आधुनिक सभ्यता की महामारी हैं। वह जो आधुनिक सभ्यता से जितना घिरा हुआ है उतना ही अधिक इस महामारी के चपेट में है।

इससे यह समझा जा सकता है कि बचाव के तौर पर आधुनिक जीवन शैली को गतिशील और संचालित करने वालों संसाधनों एवं उपक्रमों को स्थगित किये जाने से वैसे लोगों को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी जो उस जीवन शैली के बहुत अभ्यस्त रहे। साथ ही साथ उन कामगारों को भी कम दुर्दशा नहीं झेलनी पड़ी जो आम दिनों में उन्हीं अभ्यस्तों के लिए मानों स्टैंडिंग रिजर्व हुआ करते थे। रोज–रोज कमाने–खाने वाले लाखों–लाख मजदूरों और कामगुजारों को इस मनःस्थिति से गुजरना पड़ा जहाँ वे भूखों मरने के बजाय कोरोना से आमने–सामने लड़ने को बेहतर समझ रहे थे। यातायात के साधनों के बंद होने से उनमें कितने तो बाल–बच्चे और हरका–बक्सा लेकर हजारों मील की पैदल यात्रा पर निकल पड़े ताकि अपने गाँव लौट सकें। इतना ही नहीं, दुनिया को इस लॉकडाउन से बहुत बड़ी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी है। यह क्षति नहीं उठानी पड़े, इसके लिए तो कितने देश मन ही मन यह भी सोच रहे थे कि क्यों न इस महामारी को फैलने की खुली छूट दे दी जाय। सभी लोग संक्रमित हो जायेंगे। अधिकतम पाँच–सात प्रतिशत जनसंख्या मर जायेगी और शेष में कोरोना से लड़ने की एंटीबॉडी निर्मित हो जायेगा। इस तरह आर्थिक क्षति से बचा जा सकेगा और कुछ प्रतिशत जनसंख्या की बली चढ़ाकर कोरोना को हरा पाना सम्भव होगा। यह बात अलग है कि सरकारें ऐसा नहीं कर सकीं। परन्तु इन सभी नफा–नुकसानों से हटकर एक दूसरा तथ्य जो उभर कर सामने आया है वह यह कि इस लॉकडाउन से भूमण्डलीय स्तर पर पारिस्थितिकी और पर्यावरण में जो सकारात्मक और धनात्मक प्रभाव पड़े हैं तथा रोजमर्रे की दुर्घटनाओं और अतिचारों में जो कमी आई है, उसकी तुलना में कोरोना वायरस से होने वाली मानवीय क्षति अपेक्षाकृत कम ही है। इसका मतलब है कि मानवीय क्षति और अतिचार की दृष्टि से आधुनिक जीवन की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गतिशीलता और बेतहासा भाग–दौड़ अपने आप में किसी महामारी से कम नहीं। यदि महात्मा गाँधी की चेतावनी को अपने शब्दों में कहें तो इन्सान आधुनिक जीवन शैली के मोह–पाश में इस कदर जकड़ा हुआ है कि इसका महामारीपन उसे दिखाई नहीं देता।

वास्तव में देखा जाय तो इस महामारी ने आधुनिक सभ्यता को एक ऐसे दहलीज पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ हर आदमी अदृश्य कोरोना की मारक त्रासदी से जूझ रहा है। आधुनिक सभ्यता को बुनने वाले उन तारों को छुने से डर रहा है जबकि उन्हीं तारों से उसका जीवन बँधा हुआ है। इस भय और दहशत के कारण अपने घरों में दुबका हुआ आधुनिक मनुष्य अन्दर ही अन्दर आधुनिक जीवन शैली के अतिचार का भी अनुभव किया है। पता नहीं हम अपने जीवन में कितने प्रकारों के अभावों का सामना करते हैं परन्तु कोरोना वायरस ने हमारा सामना आधुनिक जीवन शैली के अभाव से कराया है। कुछ समय के लिए ही सही लेकिन इस दौरानवै।छ हम सबों ने आधुनिकता की अनुपस्थिति को जीया है। क्या इन मिले–जुले अनुभवों से मनुष्य का सामूहिक मन यह सीख ले सकेगा कि जीवन के आधुनिक तौर–तरीकों के बगैर भी जीवन सम्भव है? क्या उत्तर – कोरोना काल की दुनिया में हमारा सामूहिक मन जीवन जीने की ऐसी कला को विकसित करने का प्रयास करेगा जो आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं से मुक्त हो। इसमें कोई दो राय नहीं कि कोरोना संकट ने हमारे समक्ष कुछ अस्तित्वात्मक प्रश्नों को खड़ा किया है और इन मौन प्रश्नों में साभ्यतिक बदलाव की आहट सुनी जा सकती है। इस बदलाव की दिशा क्या होगी, स्पष्ट तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, तीन प्रकार की सम्भावनाओं पर विचार अवश्य किया जा सकता है।

इसमें पहला यह कि उत्तर–कोरोना काल की दुनिया में राष्ट्रवादी अलगाव के खतरे बढ़ सकते हैं। इसकी सम्भावनाएँ दिखने भी लगी हैं। यदि ऐसा हुआ तो राष्ट्रों के बीच का संघर्ष बढ़ेगा और अन्दर ही अन्दर सभ्यताओं के संघर्ष को भी बढ़ावा मिलेगा। युद्ध की विभिषिका से मानवता एक बार फिर थर्रा उठेगी। यह युद्ध बन्दुकें, तोप और मिसाईल से कम ही लड़े जायेंगे। जैविक हथियारों से युद्ध लड़े जाने की शुरूआत हो सकेगी। मिसाईल भी ऐसे होंगे जो अपने टारगेट पर विस्फोट कर खतरनाक वायरस वायुमण्डल में फैला सकेंगे। इस अलगाव के समर्थक बदले की कार्यवाही के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पक्ष में यह भी तर्क दे सकेंगे कि कोरोना वायरस भी एक जैविक हथियार है और दुनिया भर में इसके संक्रमण को बतौर एक युद्ध ही फैलाया गया है। इतिहासकार युवाल नोआ हरारी ने हाल में ही 'वर्ल्ड आफ्टर कोरोना वायरस' शीर्षक से फाइनेन्सियल टाइम्स में एक लेख लिखा था। हरारी इस खतरे को भापते हुए उचित ही कहते हैं कि हमें राष्ट्रवादी अलगाव और वैश्विक एकजुटता के बीच चुनाव करना होगा। यह महामारी और उसका अर्थव्यवस्थाओं पर प्रभाव एक वैश्विक संकट है। यह संकट वैश्विक सहयोग से ही मिटाया जा सकेगा। सबसे पहले तो वायरस से निपटने के लिए दुनिया भर के देशों को सूचनाओं का आदान–प्रदान करना होगा। यही बात इन्सानों को इस वायरस पर बढ़त दिला सकती है। अगर हम राष्ट्रवादी अलगाव को चुनेंगे, तो यह संकट अधिक नुकसान करके देर से टलेगा। भविष्य में भी ऐसे संकट आते रहेंगे। लेकिन हम वैश्विक एकजुटता को चुनते हैं तो यह कोरोना के खिलाफ हमारी बड़ी जीत तो होगी ही, साथ ही साथ हम भविष्य की संकटों से पार पाने के लिए मजबूत भी होंगे जो 21 वीं सदी में धरती से मानव–जाति का अस्तित्व ही मिटा सकते हैं।

दूसरी बलवती सम्भावना यह कि आधुनिक सभ्यता के उस अभूतपूर्व और विस्मयकारी आयाम की ओर दुनिया तेजी से बढ़ चले और अत्याधुनिक तकनीक के समक्ष मनुष्य आत्मसमर्पण करते हुए उस पर अपनी सम्पूर्ण निर्भरता को आत्मस्वीकृति प्रदान करे। यह आत्मस्वीकृति इस बात की होगी कि मनुष्य की आत्मा को पासवर्ड के डिजिट में बदल दिया जाय। इसी पासवर्ड के माध्यम से मनुष्य उस सेंसर, रिमोट और ऑन लाईन दुनिया का सदस्य बन सकेगा जिसे संचालित करने के लिए भौतिक हस्तक्षेप की जरूरत नहीं के बराबर होगी। इसे 'वर्चुअलायजेशन ऑफ लाइफ एण्ड वर्ल्ड' कहा जाना अधिक उचित होगा। इसकी शुरूआत 'स्मार्ट एरा' के रूप में हो चुकी है। आज पूरी दुनिया वर्चुअल स्पेश में अपनी उपस्थिति को अधिकतम करने की दिशा में तेजी से बढ़ रही है। उत्तर–कोरोना विश्व में यह प्रोजेक्ट मानों अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकेगा। आशंका तो यह भी गहराती जा रही है कि इस प्रोजेक्ट का अधिकतम लाभार्थी बनकर वैश्विक अर्थव्यवस्था पर अपनी धाक और धौंस जमाने के लिए ही कृत्रिम कोरोना वायरस को दुनिया में छोड़ा गया है। चूँकी यह वायरस आधुनिक जीवन शैली के भौतिक सम्पर्क–सूत्रों पर सवार होकर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

फैलता है, अतः वर्चुअल स्पेश का जीवन और रिमोट एवं सेंसर जैसी तकनीक के द्वारा भौतिक जगत् का संचालन कोरोना की पकड़ से बाहर होगा। यह आधुनिक भौतिक सभ्यता को एक आभासी आयाम (वर्चुअल डायमेंसन) में विस्तारित करने की इतनी बड़ी पहल होगी कि उसे आभासी सभ्यता कहा जाना सर्वथा अनुचित नहीं होगा। इसका अन्दाजा लगा पाना शायद उस मनुष्य के लिए अभी पूरे तौर से सम्भव नहीं जो जीवन और जगत् को भौतिक एवं चैतसिक आयाम में समझता रहा है। यद्यपि यह आभासी दुनिया कोरोना जैसे वायरस की पहुँच से बाहर होगी लेकिन वायरस मुक्त नहीं। वह वैसे वायरसों की दुनिया होगी जिसमें वायरस के भय से लॉकडाउन नहीं किया जायेगा बल्कि वायरस के प्रभाव से पूरी दुनिया ही ब्लॉक डाउन हो जायेगी।

एक तीसरी सम्भावना यह बनती है कि उत्तर–कोरोना काल में मनुष्य नगरीय और महानगरीय आधुनिक सभ्यता के नाग–फांस से निजात पाने की दिशा में कदम बढ़ाये। इसके लिए जीवन और जगत् के आपसी ताल–मेल के सरल सूत्रों में विन्यस्त ग्राम्य जीवन शैली को अंगीकार करना होगा। यह कोई गँवारों की गँवई जीवन शैली नहीं होगी जिसे पिछड़ेपन का पर्याय माना जाता है। वह महात्मा गाँधी का आत्मपूरित ग्राम स्वराज्य होगा जिसे उन्होंने आधुनिक सभ्यता के शैतानी स्वरूप को समझकर सिरे से खारिज करते हुए एक वैकल्पिक जीवन शैली, एक वैकल्पिक सभ्यता बोध के रूप में बड़ी मजबूती के साथ दुनिया के सामने रखा था। ग्राम स्वराज में आत्मपूरित (सेल्फ कन्टेंड) विशेषण लगाकर वास्तव में महात्मा गाँधी ने देह वासना की सम्पूर्ति में निरत ऐन्द्रिक सभ्यता का विलोम प्रदर्शित किया है और इसके अनुलोम अर्थ में वह जीवन–दर्शन व्यंजित होता है जिसे सनातन भारत का, अहिंसक सत्यान्वेषी भारत का सत्व कहा जाता है। सनातन भारत की साभ्यतिक महिमा को उजागर करते हुए उन्होंने उचित ही कहा है कि "मैं यह मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखाई है उस तक दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी चीज देखने में नई आई। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही बचा है, मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकंजे में फंस गया है और चीन का कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन गिरा–टुटा जैसा भी हो, आज भी हिन्दुस्तान अपनी बुनियाद में मजबूत है।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यहाँ द्रष्टव्य है कि चीन के विषय में महात्मा गाँधी का जो असमंजस था वह आज टुट गया। कोरोना सन्धारक चीन का जो अमानवीय चेहरा सामने आया है वह बहुत कुछ कहता है। यदि दुनियाभर में आज चीन पर जो आक्षेप लगाये जा रहे हैं, वह सही है तो उसके इस कुकृत्य से कन्फ्यूशियस और लावोत्से को लज्जित होना पड़ा है, क्योंकि यह उन्हीं का देश रहा है। यद्यपि चीन अपने को उस विरासत से काट लिया है, तब भी तो मार्क्स को साम्यवादी चीन के निर्माता माओं से यह पूछना पड़ेगा कि यह साम्यवाद का कैसा संस्करण है। जिन मजदूरों की खुशहाली और हक के लिए कम्यूनिज्म की विचारधारा का जन्म हुआ था, कोरोना संकट ने उन्हें किस दुर्दशा में धकेल दिया है। यह वही चीन है जिसके निर्माता का वह कथन मुझे याद आता है कि धरती पर अन्न मनुष्यों के लिए उगता है और चिड़िया उसका बहुत बड़ा अंश खा जाती हैं, इसलिए उन्हें खत्म कर देना चाहिए। माओं के इस आह्वान से मानो उन दिनों चीन की पूरी जनता ही चिड़िमार हो गई थी। लोग तमाम तरह की आवाजें करने वाली चीजें हाथों में उठाये सड़कों पर घूमा करते थे। चीन के वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया था कि अगर गौरैया को दो घंटे तक बैठने न दिया जाय तो वह थक कर अपने आप जमीन पर गिर जाती है। लोगों का प्रयास रहता था कि वे गौरैयों को क्षणभर के लिए भी बैठने न दें। लगातार उन्हें उड़ाते रहें ताकि थककर वे गिर जांये।

यह कोरोना संकट चाहे प्राकृतिक आपदा हो अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों में हुई मानवीय चूक अथवा कोई सोची–समझी राजनीतिक आर्थिकी की चाल, इसने सबसे अधिक महात्मा गाँधी को प्रमाणित किया है। उस गाँधी को जिसने आधुनिक सभ्यता के इस स्वरूप और उसकी ऐसी हिंसक परिणतियों को उसके आरम्भिक दिनों में ही पहचान लिया था और यह भी कहा था कि मानवता की अन्तिम भलाई इसका त्याग करने में ही है। यह तो कहना मुश्किल है कि जब यह तूफान गुजर जायेगा तो हम सब में जो गाँधी है वह फिर से जिंदा हो उठेगा और गाँधी–मार्ग पर चलने की मुहीम दुनिया में शुरू हो सकेगी। आधुनिकता का यह स्वभाव है कि वह अस्तित्वात्मक समस्याओं का अनुभवमूलक समाधान ही ढूँढ़ती है। अनुभवमूलक समाधान किसी समस्या का निदान नहीं बल्कि उसी समस्या का एक प्रतिविधान होती है। यह देखा भी जा सकता है कि पूरी दुनिया आधुनिक सभ्यता के एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आभासी (वर्चुअल) आयाम को विकसित करने की मुहीम में किस कदर सन्नद्ध हो गई है। वह दिन दूर नहीं, जब सबकुछ में सेंसर लगा होगा। रिमोट से संचालित होने वाली आभासी दुनिया का चमत्कार के साथ–साथ और भी बहुत कुछ हम देख सकेंगे। जीवन्त सम्पर्क से ज्ञान का आदान–प्रदान और उत्पादन के बदले 'डिजिटल मोड ऑफ लर्निंग' के द्वारा आने वाली पीढ़ी को आभासी दुनिया का कुशल और अभ्यस्त नागरिक बनाया जाना सम्भव हो सकेगा। परन्तु यह सब कुछ अस्तित्वात्मक समस्याओं का अनुभवमूलक समाधान ही कहा जायेगा। अस्तित्वात्मक समाधान तो केवल महात्मा गाँधी ही हैं। इसमें दो राय नहीं कि उत्तर–कोरोना काल की दुनिया एक बदली हुई दुनिया होगी। राजनीतिक–आर्थिकी के बहुत सारे समीकरण बदलेंगे, लेकिन भारत को चाहिए कि वह दुनिया के साथ चलते हुए गाँधी के साथ खड़ा रहे और दुनिया को सनातन गाँधी का प्रतिस्मरण कराता रहे।

भारत दुनिया की प्राचीनतम और समृद्धतम सभ्यता और संस्कृतियों में एक है। अतः इस वैश्विक संकट के प्रति उसे अपने साभ्यतिक–सांस्कृतिक दृष्टि से विचार अवश्य करना चाहिए। केवल विचार ही नहीं बल्कि दुनिया को उससे अवगत कराना भी हमारा कर्त्तव्य है। मैं समझता हूँ, यह काम भारत सनातन गाँधी की सत्य और अहिंसा की लाठी एवं आत्मपूरित ग्राम स्वराज की साभ्यतिक–दृष्टि से कर सकता है। आज पूरी दुनिया इस वैश्विक संकट से निजात पाने के लिए तरह–तरह से सोच रही है। इस सोच में वैज्ञानिक और अर्थशास्त्रीय समाधान को ही प्राथमिकता दी जा रही है। परन्तु ध्यान रहे कि यह संकट सभ्यता के किसी एक अंग से सम्बन्धित नहीं बल्कि उसके समस्त अंगों को प्रभावित करने वाला है। अतः इसका सम्पोष्य समाधान पाने के लिए इस पर साभ्यतिक–दृष्टि से विचार करने की जरूरत है। आत्मपूरित ग्राम स्वराज की सभ्यता–दृष्टि इस संकट के सम्पोष्य समाधान का एक बेहतर विकल्प है।

– अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अतिरेकों के युग में गाँधी और उनकी अहिंसा

विश्वनाथ मिश्र

हम आज अतिरेकों के युग में जी रहे हैं। इस युग की एक सच्चाई यह है कि 1914 से 1991 की अवधि में मानवीय निर्णयों से 18 करोड़ सत्तर लाख लोग मारे जा चुके हैं।[1] इससे भी अधिक लोगों की मृत्यु शीत युद्धोत्तर विश्व में नृजातीय संघर्षों, आतंकी हमलों, कुपोषण, चिकित्सा सुविधाओं के अभाव एवं भूख से हुई है। हम तेजी से 'डे जीरो' की ओर बढ़ते जा रहे हैं।[2] परम्परागत सुरक्षा खतरों के स्थान पर गैर परम्परागत सुरक्षा खतरे विकराल होते जा रहे हैं।[3] फिर भी हमारे दुनिया की विसंगति यह है कि हम सबसे अधिक खर्च शस्त्रों के निर्माण, सौन्दर्य प्रसाधन और अश्लीलता के बाजार में करते हैं। अतिरेकों और अन्तर्विरोधों की यह दुनिया अचानक नहीं बन गयी है। यह दुनिया तब जाकर बनी है जब धीरे–धीरे दुनिया के एक प्रतिशत लोगों की मुट्ठी में उससे अधिक धन–सम्पदा जमा हो गया है, जितना निन्यानबे प्रतिशत लोगों के पास भी नहीं है। यह दुनिया तब जाकर बनी है जब जीवन की तेज गति में मानवता का चित्कार कानों से टकराती तो जरूर है, परन्तु आत्मा और मस्तिष्क में कोई हल–चल उत्पन्न नहीं कर पाती है।

भगत सिंह ने पूरी दुनिया के एक छोटे भूखंड भारत में बहरे हो चुके लोगों तक आवाज पहुँचाने के लिए असेम्बली की खाली कुर्सियों पर बम फेंका था।[4] आज पूरी दुनिया में मस्तिष्क ही बंद होते जा रहे हैं और आत्मा मरती जा रही है। क्या ऐसे विश्व को किसी बम या हिंसा–दर्शन से जगाया जा सकता है? यदि हाँ, तो इस दुनिया में बम और हिंसा–दर्शन की आवश्यकता सबसे अधिक वंचित समूहों को है या उन एक प्रतिशत लोगों को है, जो शक्ति एवं सत्ता प्रतिष्ठानों के केन्द्र में हैं? यदि हिंसा–दर्शन को जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो इसकी जरूरत दोनों तरफ के लोगों को है। एक प्रतिशत लोग अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए हिंसा का प्रयोग करना चाहेंगे और निन्यानबे प्रतिशत लोग एक

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतिशत की जमात में शामिल हो जाने के लिए हिंसा करना चाहेंगे। कार्ल मार्क्स एवं फ्रैंज फैनन जैसे विचारक वंचित समूहों के लिए हिंसा–दर्शन का समर्थन करते हैं और हीगल जैसे विचारक साधन–सम्पन्न समूहों के पक्ष में हिंसा–दर्शन की वकालत करते हैं। परन्तु, दोनों तबकों में से कोई भी अपने प्रतिपक्षी को हिंसा का वैसा ही अधिकार नहीं देना चाहते हैं जैसी हिंसा करने का वे अपने लिए एक अधिकार के रूप में माँग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हिंसा करने का अधिकार एक नैतिक नियम के रूप में विकसित नहीं हो पाता है।[5] हिंसा को ढाल की, चेहरा छुपाने की और सबसे बढ़कर भ्रम को ज्ञान मान लेने की भी जरूरत होती है। इसी कारण हिंसा को संवाद से, सत्यान्वेषन से, विवेक से और सबसे बढ़कर प्रेम से भयभीत होते हुए देखा जा सकता है।

I

मानवीय इतिहास में सुकरात से हिंसा को भयभीत होते हुए देखा गया है। हिंसा ईसा के प्रेम से भी सहमी थी परन्तु हिंसा सबसे अधिक गाँधी से विचलित हुई है, क्योंकि गाँधी में सत्य भी है, प्रेम भी है, विवेक भी है और निर्भ्रान्त ज्ञान भी है। अन्यथा, हिंसा में यदि साहस होता तो जब गोडसे पहली बार 22 जुलाई, 1944 को छुरा लेकर गाँधी पर हमले की कोशिश किया था और गाँधी ने उसे छोड़ देने का निर्देश देते हुए अपने साथ एक सप्ताह रूक जाने का आग्रह किया था, तब गोडसे इसके लिए तैयार क्यों नहीं हुआ।[6] क्योंकि, गोडसे भ्रम के टूट जाने का जोखिम नहीं लेना चाहता था, जबकि गाँधी अहिंसा का जोखिम उठाने के लिए तैयार थे। हम आप अतिरेकों और अन्तर्विरोधों के ऐसे युग में जी रहे हैं जहाँ नैतिक नियमों के अनुपालन के लिए जोखिम उठाना पड़ता है और जो अनैतिक है वह असहज नहीं रह गया है। अन्यथा, हिंसा जब नैतिक नियम नहीं है तब हम अतिमारकता के युग में पहुँच कैसे गये हैं?[7] ठीक इसके विपरीत अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा आदि मानवीय मूल्य हैं। जो दुनिया के सभी धर्मों एवं सभ्यताओं में स्वीकृत होने के कारण सार्वभौमिक नैतिक मूल्य हैं परन्तु व्यावहारिकता के नाम पर काल बाह्य होते जा रहे हैं। इतिहास जबकि साक्षी है कि जिन सभ्यताओं ने भोग और विलास के लिये अपने मूल्यों से समझौता किया वे अतीत के कब्र में दफन हो गये। आज के समय में भी सभी की सभी सभ्यतायें जहाँ व्यावहारिकता के नाम पर मूल्यों को तिलांजलि देने का मार्ग अपनाती हैं वहाँ व्यावहारिकता के नाम पर भोग–विलास की प्रवृत्ति का ही पक्ष पोषण किया जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भोग–विलास की प्रवृत्तियों को सनातन परम्परा में आसुरी प्रवृत्ति कहा गया है। महाभारत में कौरव इस प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। वाल्मीकि रामायण एवं तुलसीकृत रामचरितमानस में रावण की लंका इसकी प्रतीत है। मारकण्डेय पुराण में शुम्भ–निशुम्भ से लेकर महिषासुर तक उसी आसुरी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। सनातन परम्परा ने इन आसुरी प्रवृत्तियों को सदैव दैवी प्रवृत्तियों से पराभूत होते हुए दिखाया है। दैवी प्रवृत्तियों को धर्मानुरागी, धर्म रक्षक और धर्मवेत्ता कहा गया है। इसके विपरीत आसुरी प्रवृत्तियों को धर्मद्रोही, धर्म निंदक एवं धर्म–भ्रष्ट कहा गया है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं।[8] धर्म के इन दस लक्षणों में से किसी एक का भी पालन हिंसक होकर नहीं किया जा सकता है। जबकि अहिंसक होकर धर्म के सभी लक्षणों को आचरित किया जा सकता है। इसी कारण सनातन परम्परा ने 'अहिंसा परमो धर्मः' का उद्घोष किया है। बहुतेरे ऐसे विचारक मिल जायेंगे जो आज यह कहते हुए पाये जा सकते हैं कि 'अहिंसा परमो धर्मः' सनातन परम्परा का प्राकृतिक उद्घोष नहीं है अपितु यह बुद्धमत के समावेशन की प्रक्रिया से उत्पन्न विजातीय मत है। इस मत का परिहार श्रीमद्भगवद्गीता के दृष्टांत से किया जा सकता है। विचार करें कि हिंसा का अधिष्ठान क्या है? उत्तर मिलेगा कि क्रोध हिंसा का अधिष्ठान है। इस क्रोध के सन्दर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता का महान संदेश यह है कि "क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहातस्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रशांत बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति।"[9] इस महान संदेश में क्रोध से स्वयं अपने ही विनाश की व्याख्या की गई है।

अब यदि हिंसा का अधिष्ठान क्रोध है तब हिंसा भी स्वयं के लिए विनाशक है। अर्थात् हम अपने आत्मा की आवाज के विरूद्ध जाकर ही हिंसा कर सकते हैं। सनातन परम्परा में शरीर, मन और मस्तिष्क के उपर आत्मा को रखा गया है। आत्मा और ब्रह्म में अभेद संबंध स्थापित किया है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम भी वही हो और 'सोऽहम्" अर्थात् मैं भी वही हूँ। यह वेदान्त की स्थापना है। वेदान्त मत के आधार पर हिंसा–दर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि ऐसा होता तो वादरायण सूत्रों के भाष्यकार तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक आचार्य शंकर बड़ी आसानी से श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का कुरुक्षेत्र के युद्ध के रूप में भाष्य कर सकते थे। परन्तु, उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में प्रथम अध्याय की कोई व्याख्या न करते हुए कहा कि इस अध्याय को मन की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में समझा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गीता युद्ध भूमि का उपदेश नहीं है बल्कि चित्त की विरोधी वृत्तियों के मध्य संघर्ष में सद्प्रवृत्तियों के विजय हेतु योगनिष्ठ होने का उपदेश है। इसी कारण आचार्य शंकर ने गीता को ज्ञानयोग का ग्रन्थ बताया। परन्तु बालगंगाधर तिलक गीता को कर्मयोग का ग्रन्थ बताते हैं और इसे कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि से जोड़ते है।[10] निश्चय ही उपनिवेशवाद के विरूद्धसंघर्ष को अतिवादी धार देने में तिलक के इस भाष्य की अहम भूमिका रही है। परन्तु, विचारणीय यह भी है कि इस तरह की व्याख्या में हमारे मिथकीय पात्रों को जब ऐतिहासिक पात्र के रूप में प्रदर्शित किया जाता है तब किस तरह के अतिरेकों और अन्तर्विरोधों का जन्म होता है। मिथकीय पात्रों का कद ऐतिहासिक पात्रों के कद की अपेक्षा काफी बड़ा कद होता है। ऐतिहासिक पात्रों में देवत्व का आरोपण सम्भव नहीं है। वस्तुतः ऐतिहासिक पात्रों में देवतत्व का आरोपण मिथकीय चरित्र के आरोपण से होता है। वह मिथकीय चरित्र ही उन्हें मानवीय सीमाओं से परे अतिमानवीय और दैवीयस्वरूप प्रदान करता है। इसी में उनकी न्यूनतायें छिप जाती हैं। परन्तु, मिथकीय पात्रों को एतिहासिक पात्रों के रूप में निरूपण से वे जाति, गोत्र, वंश, सम्प्रदाय आदि की श्रेणियों में भी अपघटित होते हैं और देश–काल की सीमाओं में बँध जाते हैं। वे सत्ता–प्रतिष्ठान और सत्ता के लिए शक्ति संघर्ष में उलझे हुए सामान्य मानव से शायद ही कुछ अधिक रह पाते हैं। द्रष्टव्य है कि मिथकीय पात्रों को ऐतिहासिक पात्रों की तरह प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति मराठीराष्ट्रवाद में कुछ अधिक ही रही है। इसकी शुरुआत दो खेमों से होती है। इसमें एक ओर बाल गंगाधर तिलक और वी.डी. सावरकर हैं तो उनके प्रतिरोध में ज्योतिबा फूले एवं आम्बेडकर खड़े दिखाई देते हैं। इन चारों ने ही सनातन परम्परा (जिसे अब हिन्दू, हिन्दुत्व कहा जाने लगा) के मिथकीय दैवी पात्रों को ऐतिहासिक जामा ही नहीं पहनाया अपितु, ऐसा करके उन्हें हिंसा के पक्ष में भी उतार दिया।

उक्त स्थापना को ज्योतिबा फूले की रचना गुलाम गिरी में बहुत ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जहाँ वे मत्स्य, कुर्म, वाराह, वामण और परशुराम को ईरान से आये हुए ब्राह्मण आक्रान्ता के रूप में प्रदर्शित करते हैं, जिन्होंने भारत के मूल निवासियों पर नृशंस अत्याचार किया और उनके भू–भाग तथा राज्य पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। फूले ने सबसे अधिक निंदा वामण और परशुराम के कृत्यों की किया है। वामण ने छल से बलि के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राज्य को हड़प लिया और परशुराम ने तो हिंसा की सभी सीमाओं को पार कर लिया। उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों जो उनके महा अरि थे (महार) उनके साथ ऐसा विभत्स अत्याचार किया कि उनकी गर्भवती स्त्रियों के गर्भ से भी शिशुओं को निकालकर मार डाला।[11] भीमराव आम्बेडकर ने भी रिवोल्युशन एण्ड काउन्टर रिवोल्युशन इन एनशियेन्ट इंडिया में श्रीमद्भगवत्गीता को धर्मोपदेश या ईश्वरीय वाणी (गॉस्पेल) मानने से इन्कार किया है। फूले की अपेक्षा आम्बेडकर का लेखन यद्यपि अकादमिक है। इसलिए वे श्रीमद्भगवद्गीता में हिंसा को अधिक गहरे तक उतरकर खोलते हैं और इस ग्रन्थ को संरचनात्मक हिंसा के समर्थन में खड़ा कर देते हैं। जिसकी रचना कर्मयोग की रक्षा के लिए हुआ है (तिलक से तुलना करें) किन्तु यहाँ कर्मयोग चतुर्वर्ण व्यवस्था के जैमिनी कर्मकाण्ड की रक्षा के लिए हुआ है। यह ग्रन्थ बौद्धमत के प्रतिवाद के लिए लिखा गया है और यह जाति संरचना को रूढ़ करने के अभीष्ट को सिद्ध करता है। यह एक ऐसा षडयंत्र है जो वंचित तबकों को अपने जातिगत पेशों में बँधे रहने का प्रस्ताव करता है।[12] मिथकीय आख्यानों के ऐतिहासिक पात्रों के रूप में दस्तावेजीकरण और उसमें हिंसा के भयंकर ज्वार को कुछ हालिया लेखन भी उजागर करते हैं। इनमें ए. कंगाली एवं प्रमोद रंजन जैसे दलित विमर्शकारों का लेखन सम्मिलित है। इन विमर्शों में महिषासुर को जनजातियों के लोकप्रिय नायक के रूप में स्थापित किया गया है। यह सिंधु सभ्यता का अधिपति है और दुर्गा या पार्वती आर्यों की ऐसी नायिका हैं जो महिषासुर को योग भ्रष्टकर देती हैं। यह महिषासुर वास्तव में शंभुसेक नामधारी है और आर्यों ने इसे शिव का चरित्र प्रदान कर दिया है, जिसमें दुर्गा का वह समस्त योगदान है, जिसके चलते कोई स्त्री वेश्या कही जाती है।[13] इस व्याख्या में भी हिंसा एवं प्रति हिंसा की अभिव्यक्ति होती है।

तिलक एवं सावरकर के प्रयत्नों से मिथकीय आख्यानों की ऐतिहासिक व्याख्या के जिस धारा की शुरुआत होती है, उसमें आगे चलकर सावरकर अधिक सशक्त हस्ताक्षर सिद्ध होते हैं। अपनी पुस्तक हिन्दुत्व में वे लिखते हैं कि 'हम लोगों में से कुछ लोग रामचन्द्र को ईश्वर का अवतार मानते हैं। कुछ उन्हें एक महापुरूष मानते हैं और कुछ उन्हें वीराग्रणी मानते हैं। और "सब लोग उन्हें अपनी जाति का अत्यन्त प्रसिद्ध सार्वभौम राजा" मानते हैं।[14] 'यही सावरकर 24 अक्टूबर, 1909 को विजय दशमी के दिन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारत की स्वतन्त्रता और उसकी रणनीति पर विमर्श करने के लिए इंडिया हाउस में एक परिसंवाद करते हैं। इस परिसंवाद में गाँधी भी आमन्त्रित हैं, जिसमें सावरकर ने दुर्गा और राम का सन्दर्भ लेकर हिंसक साधनों के द्वारा भारत के आजादी की वकालत की।[15] इसके उलट गाँधी ने राम की शक्ति को भौतिक शक्ति और हिंसा से समझने के बजाय राम को तुलसी की इस चौपाई से समझाया – सौरज धीरज जेहि रथ चाका, सत्यशील दृढ़ ध्वजा पताका।[16] राम के प्रति और रामायण के प्रति गाँधी की यह आध्यात्मिक दृष्टि है, जिसमें पात्र के भौतिक सत्यापन की अपेक्षा बेमानी हो जाती है। गाँधी का यह पक्ष शंकराचार्य का पक्ष है, जो सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गाँधीकृत गीता भाष्य में प्रकट होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय की व्याख्या करते हुए गाँधी कहते हैं कि 'कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्ति मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र भी है और यही धर्मक्षेत्र भी है।[17] परन्तु सावरकर की दृष्टि में गीता प्रवचन युद्ध भूमि का शंखनाद है और यह ऐतिहासिक सत्य भी है।

यहाँ सावरकर का पक्ष लेते हुए कहा जा सकता है और स्वयं सावरकर ने भी कहा है कि जब असभ्य और बर्बर जातियों के हमले से हिन्दुस्तान के और हिन्दू कही जाने वाली जातियों के संरक्षण की जरूरत थी, तब अहिंसा की बात आत्मघाती साबित होती है। ऐसे में, जैसा कि सावरकर लिखते हैं, 'सब लोग राजनीतिक दासत्व के जहर का प्याला शांति से होठों से नहीं लगा सकते थे। जिन असभ्य और क्रूर हिंसावृत्ति का उन्हें सामना करना पड़ रहा था उसमें वे आध्यात्मिक बंधुभाव की मधुर बातों से शांत होने वाले नहीं थे। आक्रान्ताओं के फौलादी खड्ग की धार मृदुताल पत्रों के सुस्वर मन्त्रोचार से मन्द होने वाली नहीं थी।'[18] सावरकरका यह तर्क वस्तुतः युद्धकाल में अहिंसा की अव्यावहार्यता और आत्मरक्षार्थ हिंसा के पालन के तर्क पर आधारित है। प्रथम महायुद्ध में युद्ध प्रयत्नों में गाँधी भी सहभागी रहे हैं।[19] परन्तु, उन्होंने धर्म और दैवी प्रतीकों को युद्ध और हिंसा का विषय नहीं बनाया। जबकि सावरकर ऐसा खुलकर करते हैं और तिलक के चिंतन में इसके दार्शनिक बीज सन्निहित हैं अपितु प्रकट नहीं हैं। सवाल यह है कि हिंसा–दर्शन का समर्थन करने के लिए धर्म और आस्था को आधार बनाया जाना क्या उचित है?कहीं ऐसा तो नहीं कि ऐसा करके हम हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर ही हिन्दू धर्म का गला घोंट दे रहे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुतः जब जाति की रक्षा के नाम पर हिंसा–दर्शन का समर्थन करना हो और हम उस दर्शन को वैध मानते हों तब मानवता की रक्षा के लिए जब हिंसा–दर्शन की बात की जाती है तब हम उसका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? भारत में भगत सिंह मानवता की रक्षा के लिए हिंसा–दर्शन का समर्थन करते हैं और ब्रिटिश हिंसा का प्रतिवाद हिंसा से करने के लिए धर्म का सहारा लेने के बजाय मानववाद का सहारा लेते हैं। वे अपने को नास्तिक कहते हैं। भगत सिंह की यह धारा उन्हें कार्ल मार्क्स की ओर ले जाती है। वे हिंसा को धर्म, आस्था के प्रतीकों और ईश्वर की आड़ में नहीं छुपाते हैं। जबकि तिलक–सावरकर का खेमा ऐसा नहीं कर पाता है। तिलक–सावरकर का खेमा जब हिंसा–दर्शन के समर्थन में हिन्दू ईश्वरों को जमीन पर उतारता है तब वह फूले और आम्बेडकर के हिन्दू ईश्वर प्रतीकों के प्रति दुरास्था को भी वैध बना देता है। क्योंकि, आखिरकार फूले और आम्बेडकर भी तो यही कह रहे हैं कि हिन्दू देवी–देवता हिंसा के प्रतीक हैं और उन्होंने भारत के वंचित समूहों के प्रति अत्याचार किया है। हिंसा के समर्थन के लिए भगत सिंह का आधार सनातन परम्परा की महानता को न्यून नहीं करता है, यहाँ तक कि उसके साथ छेड़–छोड़ भी नहीं करता है। परन्तु, तिलक और विशेषकर सावरकर जब हिंसा–दर्शन के समर्थन में हिन्दू धर्म ग्रन्थों और आस्था प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं तब वे फूले एवं आम्बेडकर सदृश हिन्दू आस्था के समालोचकों को एक ताकतवर हथियार भी प्रदान कर देते हैं। उस हथियार का प्रयोग जब सनातन आस्थाप्रणाली के विरूद्ध होता है तब यह विमर्श उत्पन्न होता है कि सनातन परम्परा की आध्यात्मिक व्याख्याओं के पीछे चेहरा छुपाने का षडयंत्र शामिल है और इनमें जातीय हिंसा तथा शोषण को चित्त–वृत्तियों के मध्य संघर्ष के रूप में स्थापित कर दिया गया है।

II

गाँधी उक्त सत्य से परिचित थे और वे उस सत्य से भी परिचित थे कि सनातनपरम्परा में हिंसा के भाव को प्रदर्शित करना प्राच्यविदों की सोची–समझी चाल है। कीथ, सेनार्ट, हट्टन, हीगल और मार्क्स सरीखे विचारक भी तो सनातन साहित्य में संघर्ष, द्वेष, घृणा और हिंसा की भरमार देखते ही हैं और जिसे वे असभ्य होने की और विवेकहीन होने की निशानी के रूप में भी प्रदर्शित करते हैं। इसी आधार पर प्राच्यविद भारत में ब्रितानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शासन का समर्थन भी करते हैं। ऐसे में हम भी यदि यही साबित करने की कोशिश में लग जायें कि हिन्दू युद्ध प्रिय जाति है और उनके देवी–देवता भी हिंसा करने में दक्ष हैं तब हम गुलाम मानसिकता का ही परिचय दे रहे होते हैं। वास्तव में तब हम वही स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे होते हैं जिसका आरोपण प्राच्यविदों ने हमारे उपर किया है। गाँधी इस बात को बखूबी समझते थे कि भारत में हिंसा–दर्शन के समर्थन की जो धारायें हैं उनमें कोई भी सनातन मतावलम्बी नहीं है। भगत सिंह के खेमे वाला हिंसा–दर्शन मार्क्स–अनुरागी है और सावरकर के खेमे वाला हिंसा–दर्शन प्राच्यवादियों का हिन्दुस्तानी संस्करण है। वे यह भी समझते थे कि भारत में हिंसा दर्शन के दोनों खेमों को आधुनिक सभ्यता की ज्ञानमीमांसा ने इस कदर जकड़ रखा है कि अन्ततः वे पश्चिम के भौतिकवाद के आगे घुटने टेक कर सनातन मूल्यों की इतिश्री कर लेने वाले हैं। साथ ही गाँधी यह भी समझते थे कि इन हिंसावादियों के पास उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन को एक साथ संचालित करने की कोई रणनीति नहीं है।

गाँधी ने यह पाया कि भारत में हिंसा–दर्शन की तीन प्रवृत्तियाँ एक साथ कार्य कर रही हैं। इनमें फूले का हिंसा–दर्शन प्रतिक्रियावादी है और जातीयवर्चस्व तथा जातीय हिंसा का प्रतिरोधी है। यह आर्य आक्रमण के मिथक के ताने–बाने के भीतर मूल निवासियों के अस्मिता के प्रश्न पर हिन्दू समाज को विभाजित करने वाला है। सावरकर का हिंसा–दर्शन जातीय एकता की भूमि पर खड़ा होकर औपनिवेशिक शासन का प्रतिरोधी है, परन्तु विशुद्धतावादी है। रक्त की शुद्धता और आर्य जाति की श्रेष्ठता का मिथक जिसे सावरकर प्रस्तावित करते रहे हैं, यदि फूले के चिन्तन से उसकी तुलना की जाय तो वे महाराष्ट्र में ही घूल–घूसरित हो जाते हैं। आगे चलकर स्वयं आम्बेडकर भी सावरकर की जातीय एकता और हिन्दूत्व की धारणा के प्रतिरोध में खड़े दिखाई पड़ते हैं। इस तथ्य की पुष्टि दो उदाहरणों के माध्यम से की जा सकती है। पहला इस्ट इंडिया कम्पनी के महार रेजिमेंट के हाँथों पेशवा राजाओं के पराजय के प्रतीक मालेगाँव युद्ध–स्मृति का विजयोल्लास के साथ प्रतिवर्ष स्मरण और उसमें आम्बेडकर का शामिल होना। दूसरा हिन्दू अवतारवाद (जो सनानतन परम्परा में इतिहास के आध्यात्मीकरण और मिथकीयकरण का मजबूत आधार है) के जरिये बुद्ध को हिन्दू मत में शामिल करने का प्रतिरोध करना। इन घटनाओं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से गाँधी के इस मत की ही पुष्टि होती है कि हिंसा–दर्शन के द्वारा जातीय एकता के लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत सम्भावना यह होती है कि अन्तरजातीय कलह में ही हिंसा का प्रयोग बढ़ जाता है और यह स्वातन्त्र्योत्तर भारत में एक यथार्थ भी बन चुका है। हिंसा–दर्शन की तिसरी धारा जो भारत में भगत सिंह सरीखे क्रान्तिधर्मियों के रास्ते आती है, जिसे भारत के सामंतवाद और जातिवाद से टकराने का अवसर मिल पाता, उसमें पहले ही वह निःशेष हो जाती है। परन्तु, यह ध्यातव्य हो कि इस धारा का लक्ष्य 'सर्वहारा की सम्प्रभुता'[20] स्थापित करना रहा है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन इन क्रान्तिधर्मियों के लिए एक पड़ाव है। जातीय स्वतन्त्रता की अपेक्षा मानवीय स्वतन्त्रता का लक्ष्य इनके लिए बड़ा लक्ष्य है। जातीय स्वतन्त्रता के लिए जिस तरह यह धारा ब्रिटिश शासन के खिलाफ हिंसा का समर्थन करती है उसी तरह मानवीय स्वतन्त्रता के लिये यह धारा जातीय शोषण और अन्याय के उपक्रमों से नहीं टकराती ऐसा मान लेना या तो कोरी कल्पना है या गाँधी के शरण में चले जाना है। परन्तु, यदि यह मान लिया जाय कि क्रान्तिधर्मियों का यह खेमा जिस तरह से ब्रिटिश हिंसा के विरूद्ध हिंसा का सहारा ले रहा था उसी तरह सामन्तवादी हिंसा के विरूद्ध इसे हिंसा का अवसर मिलता तो यह किससे टकराते। कदाचित तब एक ओर सावरकरी खेमा होता और दूसरी ओर भगत सिंह का खेमा होता। निश्चय ही यह स्थापना एक तर्क वाक्य मात्र है, काल्पनिक है। परन्तु, इसके समर्थन में दो तथ्यों का संधान करने से यह यथार्थ हुआ सा प्रतीत होता है। प्रथम तथ्य यह है कि हिन्दू एकता के लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्वातंत्र्योत्तर भारत में सावरकर और आम्बेडकर एकजुट होकर कोई उल्लेखनीय कार्य करते हुए नहीं दिखते हैं और द्वितीय सावरकर के शस्त्रधारी अवतारियों को आम्बेडकर खारिज कर देते हैं और विनय, शील, अस्तेय, अपरिग्रह के प्रतीक बुद्ध की शरण में चले जाते हैं। उल्लेखनीय है कि यह भी आम्बेडकर के द्वारा गाँधी के समक्ष या गाँधी के राम के समक्ष और नहीं तो गाँधी के राम जिन मूल्यों के प्रतीक हैं उनके समक्ष समर्पण है। आम्बेडकर जातीय शोषण एवं अन्याय के लिए चाहे वह प्रत्यक्ष हो या प्रच्छन्न हिंसा का समर्थन नहीं करते हैं। परन्तु आम्बेडकर जिन वंचित समूहों का समर्थन करते हैं वे स्वातन्त्र्योत्तर भारत में आम्बेडकर की धारा के विपरीत जाकर भगतसिंह की धारा पर चलने का तर्क प्रस्तुत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करते हैं। विगत सत्तर वर्षों में इस धारा ने जातीय हिंसा और शोषण के विरूद्ध जो मार्ग चुना है उसमें मारे गये लोगों की सम्मिलित संख्या साम्प्रदायिक हिंसा में मारे गये या आतंकवादी हिंसा में मारे गये कुल सदस्यों की संख्या से कम नहीं है। ठीक इसी तरह सावरकर जिन समुदायों के लिए भारत को पुण्यभूमि का अधिकार नहीं देते हैं वे भी हिंसा और प्रतिहिंसा में शामिल रहे हैं। सावरकर जिस तरह पुण्यभूमि की अवधारणा के आधार पर अनेक समुदायों के लिए सुदूर ईरान को पुण्यभूमि बताते हैं ठीक उसी तरह फूले की पुण्यभूमि 'बलिराज्य' है।[21] इस बलि राज्य में स्वयं सावरकर आक्रान्ता हैं।[22] इस तरह भारत में विकसित होने वाला हिंसा–दर्शन एक ऐसा हिंसा–दर्शन बन जाता है जो दूसरों को जितना काटता है उससे अधिक अपनों का ही खात्मा करने के लिये सन्नद्ध दिखता है। वंचित समूहों के ऊपर हिंसा और उसके प्रतिकार में प्रतिहिंसा के भीतरी खोल में फूले, आम्बेडकर और भगत सिंह की तिकड़ी सावरकर के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है। यह सामंजस्य जातीय अस्मिता के लिए हिंसा और शोषण–अन्याय एवं मानवता के प्रति हिंसा के विरूद्ध मानवतावाद के नाम पर हिंसा के मध्य हो भी नहीं सकती है। क्योंकि, सावरकर जिन ऐतिहासिक प्रतीकों में जातीय गौरव का बोध देखते हैं उन्हीं प्रतीकों के सतह पर फूले एवं आम्बेडकर अमानवीय शोषण एवं अत्याचार के बीच बिखरा हुआ पाते हैं। इस द्वन्द्व को मात्र सनातन परम्परा की आध्यात्मिक व्याख्याओं के द्वारा ही अहिंसक तरीके से सुलझाया जा सकता है।[23] वास्तविकता यह है कि भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में हिंसा धर्मियों ने हिंसा को ठीक से पहचाना ही नहीं है। भारत में ही हिंसाधर्मियों को चाहे वह किसी भी खेमे के हों, जिन्हें एक चुनौती का समना करने की जरूरत थी और आज भी है, वह है 'हिन्द स्वराज'के अहिंसा विमर्श को हिंसा विमर्श के द्वारा खारिज करना। परन्तु, ऐसा न तो सावरकर ने किया और ना ही आम्बेडकर या भगत सिंह ने।

III

हिंसा मन की एक वृत्ति और चेतना की एक अवस्था तथा शरीर की एक भाषा है। पश्चिमी दर्शन और मनोविज्ञान चेतना के तीन स्तरों की व्याख्या करता है – अवचेतन, अचेतन और चेतन। इसके विपरीत भारत की शास्त्रीय परम्परा में चेतना के पाँच स्तरों का उल्लेख मिलता है। अन्नमय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। इनमें चेतना के तीन स्तरों तक शरीर–मन का सायुज्य बना रहता है। अतः हिंसा की वृत्ति और हिंसा की चेतना अन्नमय कोश से मनोमयकोश तक अस्तित्ववान रहती है और निरन्तर अस्तित्व के निषेध के उपक्रमों में लगी रहती है। अन्नमय और प्राणमय कोश में हिंसा और हिंसा की अवधारणा के मध्य विभेद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह चेतना की वह अवस्था है जहाँ अनुभूति तो है पर भाषा नहीं है। साथ ही अनुभूतियों की स्मृति दीर्घकालिक नहीं हैं। पशु जगत् की हिंसा इसी अवस्था की हिंसा है। मनोमय अवस्था में आकर हिंसा के विकल्प की तलाश शुरू होती है और यहीं से मनुष्य पशु जगत् से उपर उठने लगता है। वह हिंसा की अवधारणा बनाता है, उसके कारणों की व्याख्या करता है और उसके हानि–लाभ को समझने लगता है। परन्तु, इस अवस्था में मनुष्य चाहता यह है कि वह स्वयं हिंसा जनित लाभों को प्राप्त कर ले और उसके दुष्प्रभाव से बच निकले। यह चंचलता की अवस्था है। यहाँ, मन हिंसा के विलोम अहिंसा की आवश्यकता को भी समझ चुका होता है किन्तु वह अहिंसा की सकारात्मक परिभाषा और उसकी उपलब्धि के संतोष से दूर रह जाता है। वह अहिंसा के स्वाद और सुख को प्राप्त करना चाहता है परन्तु उसे ऐसा लगता है कि उसके तात्कालिक लाभ दूर जायेंगे। वह डरता है कि कहीं ऐसा न हो कि अहिंसा जनित सुख की भी प्राप्ति न हो और अहिंसा की साधना के प्रयास के चक्कर में कहीं हिंसा की क्षमता भी चूक जाए। यही श्रीमद्भगवद्गीता का अर्जुनविषादयोग है। अर्जुन की जिस चिन्ता को 'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियाः'[24] कहकर व्यक्त किया गया है वह हिंसक प्रवृत्ति को त्यागकर अहिंसक प्रवृत्ति को अपनाने का ही द्वन्द्व है, जिसका समाधान करते हुए भगवान श्री कृष्ण ने सबसे पहले अर्जुन को चंचल मन के उपर अभ्यासपूर्वक नियंत्रण का उपाय सुझाया।[25] आगे चलकर इसके लिए आचरण शुद्धि–बुद्धि एवं आहार शुद्धि तथा विचार शुद्धि के आयामों को अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। फिर भी जब अर्जुन की शंकायें बनी रहती हैं, तब भगवान् श्री कृष्ण ने विश्वरूप दर्शन के माध्यम से यह प्रदर्शित किया कि समस्त चराचर में वही आत्मतत्त्व अभिव्यक्त हो रहा है जो अर्जुन में भी है और अन्य में भी है। गीता का विश्वरूप दर्शन वास्तव में वेदान्त के 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहम्' का दृश्यमान रूप है। वेदान्त के इस तत्त्वज्ञान को जान लेना और मान लेना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानमयकोश की चेतना के धरातल पर सम्भव होता है और निरन्तर उसकी अनुभूति चेतना के आनन्दमय कोश की अवस्था है। इस अवस्था में ही व्यक्ति (अर्जुन) और मानवता (कृष्ण) का संयोग होता है। इस संयोग से ही हिंसा पर विजय पायी जा सकती है।

परन्तु, जब हम शरीर वृत्ति पर ही मनुष्य की चेतना को भोथर कर देने वाली सभ्यता के दास बन जाते हैं तब अहिंसा में कायरता और पलायन देखने लगते हैं और हिंसा में वीरता का दर्शन करते हैं। गाँधी इस रहस्य से बड़ी बारीक तरीके से पर्दा उठाते हैं। वे कहते हैं कि कायरों की अहिंसा की अपेक्षा वीरों की हिंसा श्रेष्ठ है। परन्तु, इसका मतलब यह नहीं है कि गाँधी वीरों की हिंसा को वरेण्य मानते हैं। वीरता मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करने में है न कि पशुता की ओर गतिमान होने में। पाशविक शक्ति को अर्जित करना यदि वीरता होती तो भारत में तमोगुण को श्रेष्ठ बताया गया होता और सत्वगुण से बचने की सलाह दी जाती। परन्तु सत्वगुण का श्रेष्ठ गुण के रूप में वर्णन और विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश को चेतना के शिखर पर स्थापित करना भारतीय परम्परा में वीरता को अहिंसा में ही प्रतिष्ठित करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सत्वगुण का ही विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश से संबंध है। यह संबंध ही प्लेटो के दार्शनिक राजा की अवधारणा का आधार है और यही संबंध कौटिल्य के राजा को 'विनयाधिकारी'[26] बनाता है। परन्तु राजा में सत्वगुण और विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमय कोश की ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम में होती है। यह राम पाणिनी अष्टाध्यायी के भाषा विन्यास की दृष्टि से शस्त्रधारी हिंसक राम नहीं हैं। इसी कारण पाणिनी ने लौकिक (सामान्य व्यक्ति) राम तथा पारलौकिक राम (भगवान् राम) की शब्द व्युत्पत्ति में भेद किया है। लौकिक राम संज्ञावाचक है जो 'अर्थवद्धातुर प्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[27] सूत्र से बनता है। जबकि, भगवान् राम में राम की व्युत्पत्ति' रमन्ते योगिनो यस्मिन्न यः सः रामः' से होता है। यहाँ रम धातु और घञ प्रत्यय का संयोग है जहाँ अर्थवद्धातुरप्रातिपदिकम् प्रत्ययः के साथ 'कृतद्धित समासाश्च' का संयोग होता है। यही राम गाँधी के और कबीर तथा तुलसी के राम हैं। यह राम लंका की उपभोक्तावादी सभ्यता पर मोहित नहीं होते हैं। यही राम व्यक्ति के भीतर पनपने वाली रावण की लंका का भी नाश करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आधुनिक सभ्यता उसी लंका के रावण की सभ्यता है। आज लोग रावण बनकर रावण का वध करना चाहते हैं और मात्र राम का वेश धारण करना चाहते हैं, राम का चरित्र नहीं। जबकि, गाँधी रावण के लंका रूपी आधुनिक सभ्यता से मुक्ति का मार्ग राम के चरित्र को धारण करने में देखते हैं। हमारे आज के समय के अतिरेकों और अन्तर्विरोधों का आलम यह है कि लोगों को राम के मूल्यात्मक आदर्श और रावण के लंका की भौतिकतावादी सभ्यता के मध्य समायोजन का ऐसा भूत सवार है जो पूरी मानव सभ्यता को दानवी संघर्ष के मुहाने तक ले आयी है। इसी सत्य को हिंद स्वराज में प्रकट करते हुए गाँधी लिखते हैं कि लोगों को 'बाघ चाहिए पर बाघ स्वभाव नहीं चाहिए।' परन्तु, यह मिथ्या है, भ्रम है और सत्य से दूर भागना है। गाँधी कहते हैं कि 'जब मनुष्य सत्य को छोड़ता है तब किसी तरह के भय के कारण ही छोड़ता ही है।'[28] अहिंसा भी सत्य है क्योंकि यह अस्तित्व की स्वीकार्यता है। अहिंसा अहम का त्याग है। हिंसा अहम का वरण एवं संवर्धन है। एक ओर सनातनी होने का गौरव जिसके सबसे वरेण्य ग्रन्थों में अहम के त्याग के कथानकों से भरे पड़े हैं और दूसरी ओर हिंसा का ऐसा महिमा मंडन जो गाँधी की प्रतिमा को भी गोली मारकर संतुष्ट होना चाहिती है, अतिरेक नहीं तो और क्या है? वास्तव में यह द्वेष बुद्धि है जो रावण के लंका की परिचायक है। यह सत्य के साक्षात्कार का भय है और यह भय आसुरी प्रवृत्ति का स्वभाव है।

राम को वाल्मीकि रामायण में शील, प्रज्ञा, संयम, अस्तेय एवं अपरिग्रह गुण के कारण सत्यसंधि, सत्यप्रतिश्रव एवं सत्य पराक्रमी कहा गया है।[29] इस राम को ही तुलसी घट–घट वासी राम कहते हैं। यह राम नागरिक चरित्र के पर्यायवाची हैं। परन्तु, उस नागरिक चरत्रि के पर्यायवाची नहीं हैं जो उदीयमान पूँजीवाद के रास्ते चलकर वैश्वीकरण के युग तक पहुँचा है। जिसमें सफल उपभोक्ता बन जाने के लक्षण भी हैं और अपने हितों के संरक्षण के लिए सैन्यप्रवृत्ति की आक्रामकता भी है। बल्कि, राम जिस नागरिक चरित्र के संवाहक हैं वह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विनाशकारी पार्श्व प्रभावों से मानव की मुक्ति के लिए श्रेय और प्रेय दोनों हैं। इस नागरिक चरत्रि को आज सबसे बड़ी आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जा रहा है जो 'पर्यावरणीय नागरिकता' या 'सम्पोष्य नागरिकता' जैसी अवधारणाओं में व्यक्त हुआ है।[30] नागरिकता की यह अवधारणा व्यक्ति को राजकीय कानूनों के पालनकर्ता और राजकीय निष्ठा के प्रति समर्पित परम्परागत धारणाओं से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बहुत आगे ले जाती है। जहाँ व्यक्ति को जैवविविधता के संरक्षण, वैश्विक सामाजिक न्याय की प्राप्ति के उत्तरदायित्वों के निर्वहन और भावी सन्ततियों के लिये हरित धरती तथा अहिंसक समाज की विरासत को छोड़ जाने के लिए कटिबद्ध होना है।[31] गाँधी का समाज दर्शन, गाँधी का आर्थिक दर्शन और गाँधी का राजनीति दर्शन उक्त अभीष्ट की प्राप्ति का ही एक पार्श्व प्रभाव रहित मार्ग प्रशस्त करती है। इसके लिये गाँधी व्यक्ति को सत्याग्रही बनाने का आग्रह करते हैं और यही नागरिक चरित्र में राम का प्रतिष्ठित हो जाना भी है। ऐसा नागरिक चरित्र अपने शरीर की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता है। शरीर की सीमा का अतिक्रमण करने से ही हिंसा की अभिव्यक्ति होती है। उपभोक्तावाद शरीर की संक्रान्तिक सीमाओं (व्यक्ति का स्वार्थ) को बहुत अधिक बढ़ा देता है जहाँ वह प्रकृति और मनुष्यों से टकराता फिरता है। शरीर की संक्रान्तिक सीमा जितना अधिक बढ़ती है मनुष्य उतना ही अधिक हिंसा करता है और हिंसा सहता है।[32] प्रातःकालीन 'टूथपेस्ट' से रात्रिकालीन 'गुडनाइट'तक हिंसा ही हिंसा है। तकनीक हिंसा और हिंसा के आयामों को बहुत बढ़ा देती है।[33] परन्तु, विशेषज्ञ और विशेषज्ञों द्वारा निर्मित छद्म ज्ञान को यथार्थ बनाने के लिए अकूत शक्ति का प्रयोग इस ज्ञान को सार्वभौम एवं अन्तिम सत्य बनाने में लगा हुआ है।[34] जिन लोगों ने इस ज्ञान के समक्ष अपना समर्पण कर दिया है वे असत्य को सत्य मानने के दासता पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। उन्हें गाँधी ही असत्य प्रतीत होते हैं। ठीक वैसे ही जैसे 'पौण्ड्रक' को वासुदेव कृष्ण नकली प्रतीत होते थे और वह अपने को असली कहता था। ऐसे पौण्ड्रक ही गाँधी का बार–बार वध करना चाहते हैं, परन्तु हर बार गाँधी और विराट होकर उनके समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (का.हि.वि.वि.,) चेतगंज
वाराणसी-221002

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *इ.जे. हाब्सबाम, एज ऑफ एक्सट्रीम्स, एबेकस, लन्दन, 1994*
2. *डे जीरो का तात्पर्य उस दिन से है जब पीने का पानी उपलब्ध नहीं होगा।*
3. *परम्परागत सुरक्षा खतरों में बाह्य आक्रमण शामिल है। गैर परम्परागत सुरक्षा खतरा एक नवीन अवधारणा है। इसमें पर्यावरण विघटन, असमान विकास, कुपोषण, बढ़ती*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुई कुंठा एवं अवसाद, ऋतु चक्र में परिवर्तन, बेरोजगारी, संरचनात्मक हिंसा, बढ़ती हुई कट्टरता, नृजातीय असंतोष आदि सम्मिलित हैं। प्रायः परम्परागत सुरक्षा खतरे बाहरी खतरे होते हैं और गैर परम्परागत सुरक्षा खतरे आन्तरिक होते हैं।

4. भगत सिंह ने सेशन कोर्ट में अपने बचाव के लिए जो बयान दिया था, उसमें 'बहरे कानों तक आवाज पहुँचाने के लिए' उल्लिखित है।
5. यहाँ नैतिक नियम को कांट द्वारा निरूपित अर्थों में ग्रहण किया गया है। कांट की मान्यता है कि नैतिक वह है जो सार्वभौमिक है। जो किसी एक के लिए स्वीकार्य है वही सबके लिए स्वीकार्य हो और जो सबके लिए स्वीकार्य है वही किसी एक के लिए भी स्वीकार्य हो। इस शर्त को पूरा करने वाले नियम ही नैतिक नियम होते हैं।
6. कुमार प्रशान्त, "छठी सफलता से पहले", गाँधी मार्ग, पृ. 61, अंक– अकथनीय सत्य का ताप, 2019
7. अतिमारकता के युग का तात्पर्य हमारी आज की उस क्षमता से है, जिसमें आणविक, रासायनिक आदि हथियारों के जरिये पूरी मानवता को अनेक बार समाप्त किया जा सकता है। चूँकि पूरी मानवता को एक ही बार समाप्त कर देने के बाद हथियारों का प्रयोगकर्ता तक कोई नहीं बचेगा, फिर भी हमारे पास उससे अधिक हथियार हैं। इसी कारण हथियारों की कुल मारक क्षमता के आधार पर इस युग को अतिमारकता का युग कहते हैं।
8. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।। – मनुस्मृति, 6:92.
9. श्रीमद्भागवद्गीता, 2:63
10. इस मत का प्रतिपादन बाल गंगाधर तिलक ने गीताभाष्य की भूमिका में स्पष्ट रूप से कर दिया है। देखें, बाल गंगाधर तिलक, श्री भगवतगीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, वैभव प्रेस, बम्बई, 1933, पृ. 25.
11. ज्योतिराव फूले, स्लैवरी, क्रिटिकल क्वेस्ट, नई दिल्ली, पृ0 21–42.
12. भीमराव आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, भाग–3, मिनिस्ट्री ऑफ सोशल जस्टिस एण्ड इम्पावरमेंट, नई दिल्ली, 2014, पृ0 351–380.
13. संजय जोठे, "महिषासुर–विमर्श", प्रतिमान, वर्ष–4, अंक–7, पृ0 107–130.
14. वी.डी. सावरकर, हिन्दुत्व, लक्ष्मण नारायण गर्दे, कोलकाता, 1982, पृ0 94.
15. जेम्स डगलस, "अकथनीय सत्य का ताप", गाँधी मार्ग, 2019, पृ0 21–22.
16. मनोज राय, हिंद स्वराज : अरथ, अमित, आखर अति थोरे, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2015, पृ. 46.
17. गाँधी, गीता–बोध और मंगल–प्रभात, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 9–10
18. वी.डी. सावरकर, वही, पृ0 19–20.
19. यहाँ भी वे न्याय के पक्ष में अहिंसा के साथ सेवा के लिए खड़े थे। यहाँ भी उन्होंने हिंसा को उचित नहीं माना है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

20. इस शब्द का प्रयोग भगत सिंह ने किया है। देखें, भगत सिंह, द जेल नोट बुक एण्ड अदर राइटिंग्स, सम्पादक–चमन लाल, लेफ्ट वर्ल्ड, नई दिल्ली, 2016, पृ.131–136.
21. गोपाल गुरु, "द आइडिया ऑफ इंडिया : डेरिवेटिव, देशी एण्ड बियान्ड", इकोनामिक एण्ड पॉलिटिकल विकली, भाग–46, अंक–37, 2011, पृ0 36.
22. सावरकर चितपावन ब्राह्मण हैं और परशुराम से पूर्वज संबंध रखते हैं, जिन्हें फूले ईरानी आक्रान्ता कहते हैं। देखें, ईरावती कर्वे के अधीन कैलाश चन्द्र मेहता का शोध, बाम्बे विश्वविद्यालय 1928, शोध का शीर्षक है 'चितपावनएण्ड एथनिक स्टडी।'
23. इस सन्दर्भ में महिषासुर विमर्श के प्रतिवाद में प्रस्तुत लेखक और सहलेखक अम्बिका दत्त शर्मा का आलेख द्रष्टव्य है। अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र, मिथकीय आख्यान और इतिहास बोध, प्रतिमान, वर्ष–5, अंक–10, 2017, पृ0 152–164
24. श्रीमद्भगवद्गीता, 1:40
25. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
    अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। – श्रीमद्भगवद्गीता 6:35
26. कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में जिस प्रथम अधिकरण में राजा का उल्लेख हुआ है उसे विनयाधिकारिक प्रकरण नाम दिया गया है। देखें, वाचस्पति गैरोला द्वारा सम्पादित कौटिल्य अर्थशास्त्र की गणपतिशास्त्री टीका, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 2000,पृ0 1–69
27. गाँधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 2001, पृ. 12.
28. वही, पृ. 68.
29. वाल्मीकि जब पहली बार राम का चरित्र चित्रण करते हैं तब लिखते हैं "सर्वे ज्ञानोपसम्पनाः सर्वे समुदिता गुणैः। तेसामपिमहातेजा रामः सत्य पराक्रमः वाल्मिकी रामायण, 1:18:26. विश्वामित्र जब राम के सन्दर्भ में पहली बार चर्चा करते हैं तब वे कहते हैं कि "अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्य पराक्रमः। वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः, वाल्मिकी रामायण, 1:19:14
30. पर्यावरणीय नागरिकता की अवधारणा का प्रतिपादन संयुक्त राष्ट्रसंघ के पर्यावरण एवं विकास आयोग ने अपने प्रतिवेदन में सुझाया है। देखें, संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरण एवं विकास आयोग का प्रतिवेदन, 1987, पृ. 41.
31. देखें, एण्ड्रयू डाब्सन एवं ड्रिक बेल, इन्वायरमेंटल सिटिजनशिप गेटिंग फ्राम हियर एण्ड देयर, कैम्ब्रिज, एम.आई.टी. प्रेस, 2005, पृ. 23–24
32. देखें और तुलना करें, गाँधीकृत हिन्द स्वराज का उन्नीसवां अध्याय।
33. इस विषय के विवेचन के लिए देखें, प्रस्तुत लेखक की रचना 'पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019 का छठा अध्याय।
34. देखें और तुलना करें, गाँधीकृत हिन्द स्वराज का ग्यारहवां एवं बारहवां अध्याय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सौगत प्रामाण्यवाद

अम्बिका दत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के प्रश्न पर पहले मीमांसक और बाद में नैयायिकों ने जितनी गम्भीरता से विचार किया है उतनी गहराई से इस प्रकरण पर बौद्ध परम्परा में विचार नहीं हुआ है। इसका एक कारण बौद्ध प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर तत्त्वमीमांसा का वह अधिभार है जिसके चलते उनकी प्रमाणमीमांसा लोकाभिमुख कम और निर्वाणोन्मुखी अधिक रही है। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बौद्धों ने इसे व्यवहार को इतना अधिक समर्पित प्रश्न माना कि तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की अनुरूपता में इसकी व्याख्या करने की उन्हें आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। बौद्ध परम्परा में तर्कपुंगव दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र, प्रज्ञाकर गुप्त, मोक्षाकर गुप्त, रत्नाकरशांति, रत्नकीर्ति और ज्ञानश्रीमित्र जैसे एक से बढ़कर एक प्रमाणमीमांसक हुए। इनके प्रभाव में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का अभूतपूर्व विकास हुआ है। परन्तु इनके ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की चर्चा प्रसंगप्राप्त रूप से यत्किंचित् ही देखने को मिलती है। जबकि प्रामाण्यवाद को सुगठित रूप में प्रस्तुत करना किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए अपने पुरूषार्थ को प्राप्त करने जैसा होता है। शान्तरक्षित और कमलशील ही केवल इसके अपवाद कहे जा सकते हैं जिन्होंने क्रमशः 'तत्त्वसंग्रह' और 'तत्त्वसंग्रह पंजिका' में प्रामाण्यवाद के सभी विकल्पों पर बौद्ध दृष्टि से विचार किया है।[1] शान्तरक्षित वह पहले व्यक्ति हैं जो बौद्धेतर दर्शनों के प्रामाण्य सम्बन्धी विचारों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका भूरिशः खण्डन करते हैं और प्रमाण्यवाद के बौद्धपक्ष को समीक्षित रूप से उद्घाटित भी करते हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग से कमलशील पर्यन्त बौद्ध प्रामाण्यवाद के विकास की लम्बी यात्रा में उसका स्वरूप एकरेखीय नहीं रहा है। जबकि मीमांसक और नैयायिक अपने–अपने स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद की दृढ़ धारणा से कभी विचलित होते

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दिखाई नहीं पड़ते। वस्तुतः बौद्ध नैयायिकों के समक्ष एक ओर ज्ञान की आदर्शभूत स्थिति बुद्ध की सर्वज्ञता थी तो दूसरी ओर साधारण व्यक्तियों को होने वाला नील–पीत का ज्ञान सांव्यावहारिक ज्ञान का प्रतिदर्श था। इन दोनों प्रकार के ज्ञान को एक स्तर का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने प्रारम्भ से ही प्रामाण्यवाद के विमर्श को परमार्थ और संवृत्ति के द्वितलीय धरातल पर सुगठित करने का प्रयास किया है। बुद्ध सर्वज्ञ हैं और परमार्थ सत्य को सम्यक् रूप से जानने वाले हैं। इतना ही नहीं, वे परमार्थ सत्य और संवृत्ति सत्य के भेद को भी जानते हैं। इसीलिए उन्हें सम्यक् सम्बुद्ध कहा जाता है। अतः उनके ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता स्वाभाविक ही है।[2] यह बात ठीक वैसी ही है जैसे मीमांसक वेदों की अपौरूषेयता की रक्षा हेतु स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन करते हैं परन्तु इससे आगे घटपटादि लौकिक ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध करने के लिए हठ करते हुए दिखाई पड़ते हैं। बौद्ध ऐसा नहीं करते। उनके अनुसार बुद्ध सर्वज्ञ होने से प्रमाणमूत हैं। अतः उनके ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होना औत्सर्गिक है। परन्तु साधारण व्यक्तियों को होने वाला नील–पीत का सांव्यावहारिक ज्ञान प्रथम दृष्ट्या परतः प्रामाण्य ही होता है। यह बात अलग है कि सांवृत्तिक धरातल पर होने वाले सभी ज्ञानों की प्रस्थिति एक जैसी नहीं होती। अतः सांव्यावहारिक क्षेत्र के कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और शेष का परतः भी स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः यह यथोपलब्धिन्याय से निकला हुआ सौगत प्रामाण्य चिन्तन का 'अनियमवाद' है जिस पर शान्तरक्षित और कमलशील सबसे अधिक बल देते हैं।[3]

I

बौद्ध प्रमाणमीमांसा में साधारण व्यक्तियों को होने वाला वह ज्ञान जिससे व्यवहार का सम्पादन होता है वह नाम, द्रव्य, जाति गुण और क्रिया नामक पंचविध कल्पनाओं से युक्त हुआ करता है। इसीलिए ऐसे सभी ज्ञानों को सांवृत्तिक कहा जाता है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा इन्हीं सांवृत्तिक ज्ञानों के संदर्भ में की गई है। सांवृत्तिक ज्ञानों का प्रामाण्य परतः होता है, इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन धर्मकीर्ति ने किया है। प्रमाणवार्त्तिक में बौद्ध सम्मत प्रमाणलक्षण की प्रस्तावना करते हुए ही वे इसका संकेत कर देते हैं कि 'स्वरूपस्य स्वतोगतिः, प्रामाण्यं व्यवहारेण'।[4] धर्मकीर्ति का यह अभिकथन एक प्रकार से बौद्ध प्रामाण्यवाद का प्रस्थानभेदी वक्तव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी ज्ञानों का अपने स्वरूप की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवगति स्वतः होती है, अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान ही नहीं जो अपने स्वरूप के स्वसंवेदन से वियुक्त रहता हो। ज्ञान होना और इस बात से अनभिज्ञ रहना वदतोव्याघात है। परन्तु अपने स्वरूप की अवगति के साथ उत्पन्न हुए ज्ञान के प्रामाण्य का निर्धारण व्यवहार से अर्थात् अर्थक्रिया की सिद्धि से परतः होता है। इसीलिए धर्मकीर्ति ने प्रमाण को अविसंवादी ज्ञान के रूप में परिभाषित किया है और अविसंवाद शब्द की निरूक्ति 'अर्थक्रियास्थिति की है।[5] धर्मकीर्ति के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रत्येक ज्ञान को अपने स्वरूप का स्वसंवेदन होता है तथापि ज्ञान के स्वरूप का स्वतः अवगत होना उसके प्रामाण्य का समानुपाति नहीं कहा जा सकता। यदि दोनों एक दूसरे के समानुपाति होते तो एक ओर प्रमाण्याप्रामाण्य की जिज्ञासा नहीं होती और दूसरी ओर यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान में अन्तर किया जाना सम्भव नहीं होता। ऐसा इसलिए कि जिस तरह यथार्थ ज्ञान की स्वरूप में अवगति स्वतः होती है उसी तरह भ्रमात्मक ज्ञानों की स्वरूपावगति भी स्वतः ही होती है। अतः धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को 'मैं ज्ञान हूँ' यह द्योतित करते हुए तो उत्पन्न होता है लेकिन 'मै प्रमा हूँ' इस प्रमाणपत्र के साथ उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान का प्रमात्व या प्रामाण्य एक उत्तरभावी स्थिति है जो पूर्व ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित वस्तु की प्राप्ति (अर्थक्रियास्थिति) से निर्धारित होता है।[6]

यहाँ धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित प्रामाण्य के परतस्त्व को ठीक से समझाने के लिए न्यायसम्म्त परतः प्रामाण्य की अवधारण से उसके अन्तर को समझना जरूरी है। उपर से देखने पर ये दोनों एक दूसरे से मिलते–जुलते प्रतीत होते हैं। नैयायिकों के लिए प्रामाण्य का निकष प्रवृत्तिसाफल्य है तो धर्मकीर्ति के लिए अर्थक्रिया का निष्पादन। ये दोनों कसौटियाँ ऐसी हैं कि प्रामाण्य की विवक्षा ज्ञानवृत्तिक न होकर क्रियावृत्तिक हो जाती है। परन्तु परतः प्रामाण्य के इन दो संस्करणों में सूक्ष्म अन्तर भी है और उस अन्तर की अनदेखी नहीं की जा सकती। वह यह कि नैयायिक प्रामाण्य की ज्ञप्ति और निर्धारण दोनों को परतः मानते हैं जबकि धर्मकीर्ति का मानना है कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति तो स्वतः होती है परन्तु उसका निर्धारण परतः होता है। इस सूक्ष्म अन्तर से परतः प्रमाण्यवाद की व्याख्या और सौष्ठव पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है। इस निर्णायक प्रभाव को इस संदर्भ में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समझ पाना सुकर होगा कि परतः प्रामाण्य के इन दो संस्करणों पर किस तरह अनवस्था दोष की प्रसक्ति दिखाई जाती है और उसका कि तरह परिहार किया जाता है।

न्यायमत में एक ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय रूपी मानस प्रत्यक्ष नामक दूसरे ज्ञान से होता है और दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिए तीसरे अनुव्यवसाय रूपी मानस प्रत्यक्ष की अपेक्षा है। इस अपेक्षा का अन्तहीन होना ही मूलोच्छेदक अनवस्था है। यही अनवस्था प्रामाण्य की परतः ज्ञप्ति को लेकर उत्थापित होती है, क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण भी तो एक ज्ञानस्थिति ही है और उसके ज्ञान के लिए ज्ञानान्तरों की आवर्तीय अपेक्षा अनवस्था को सैद्धान्तिक रूप से दुर्निवार बना देती है। इसके उत्तर में नैयायिक यह नहीं कह सकते कि प्रवृत्तिसाफल्य के पश्चात् प्रेक्षावान व्यक्ति की निवृत्ति हो जाती है, अतः यह प्रक्रिया इसी बिन्दु पर विरमित हो जाती है। यह उत्तर प्रामाण्य के भी परतः प्रामाण्य की दृष्टि से सर्वथा उचित है लेकिन जिस प्रवृत्तिसाफल्य से पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित और ज्ञापित होता है उस प्रवृत्तिसाफल्य–ज्ञान के ज्ञान की दृष्टि से यह समाधान कथमपि संतोषजनक नहीं है। यहाँ अनवस्था का प्रसंग प्रामाण्य के भी परतः प्रामाण्य की अपेक्षा से नहीं है वल्कि प्रामाण्य–ज्ञान की परतः ज्ञप्ति की अपेक्षा से है। यह सही है कि पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रमात्व या प्रामाण्य उत्तरवर्ती प्रवृत्तिसाफल्य से सिद्ध हो जाता है और प्रामाण्य की जिज्ञासा इसी के साथ विरमित भी हो जाती है लेकिन प्रवृत्तिसाफल्य भी तो एक ज्ञानस्थिति ही है और उसके परतः ज्ञापित अथवा प्रकाशित होने की अपेक्षा यहाँ भी बनी ही रहती है। अतः नैयायिकों के परतः प्रामाण्यवाद में अनवस्था की प्रसक्ति ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से दुर्निवार है। उनके पास एक ही विकल्प शेष बचता है कि वे मानें कि सभी ज्ञानों का ज्ञात होना अपरिहार्य नहीं है। इसतरह प्रवृत्तिसाफल्य की ज्ञानस्थिति अज्ञात रहकर भी पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध कर सकती है। परन्तु ऐसे निश्चेष्ट प्रामाण्यग्रह को आत्मचेतन मनुष्य का प्रामाण्यबोध नहीं कहा जा सकता।

अब धर्मकीर्ति के द्वारा परतः प्रामाण्यवाद की जैसी व्याख्या की गई है उसमें नैयायिकों के परतः प्रामाण्य की तरह 'प्रमाण्य–ज्ञान' की परतः ज्ञप्ति को लेकर अनवस्था नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि जैसे पूर्ववर्ती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञान को स्वरूप की स्वसंवित्ति होती है उसी प्रकार पूर्ववर्ती ज्ञान को प्रमाणित करने वाले उत्तरवर्ती ज्ञान अर्थात् 'अर्थक्रियास्थिति–ज्ञान' का भी स्वसंवेदन होता है। परन्तु कुछ एक प्रतिपक्षियों ने धर्मकीर्ति की व्याख्या पर बेवजह अनवस्था को दूसरे तरीके से आरोपित करने का प्रयास किया है। वह ऐसे कि यदि पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रामाण्य उत्तरभावी अर्थक्रियास्थिति से निर्धारित होता है तो अर्थक्रिया स्थिति के प्रामाण्य का निर्धारण भी किसी अवान्तर अर्थक्रियास्थिति से होनी चाहिए। यह भी एक आवर्तीय प्रक्रिया होने से अनवस्थाकारक ही होगा। बौद्ध पक्ष से इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहा जा सकता है कि ज्ञान में हमारी प्रवृति किसी प्रयोजन को लेकर होती है। 'यह जल है' इस ज्ञान का प्रामाण्य हम इसलिए जानना चाहते हैं कि इसका सीधा सम्बन्ध हमारी स्नान–पान की इच्छा पूर्ति से है। अतः जाल ज्ञान के पश्चात् हम तत्सम्बन्धी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। उस ज्ञान के फलस्वरूप हमारा प्रयोजन पूर्ण हो जाता है तो वह ज्ञान प्रामाण्य रूप माना जाता है तथा इससे आगे जाने की न तो हमें प्रवृत्ति ही होती है और न इससे आगे जाने की आवश्यकता ही है। माना कि प्यास बुझाने के लिए हम जलज्ञान से प्रवृत्त हुए थे और जब जल पी कर हमारी तृषा शांत हो गई तो इस अर्थक्रिया निष्पत्ति के साथ ही प्रामाण्य की विवक्षा भी विरमित हो जाती है। अतः अनवस्था के लिए कहाँ अवकाश है।[7] इस प्रसंग में प्रज्ञाकर गुप्त [8] की अभ्युक्ति यह है कि जहाँ प्रथम ज्ञान में केवल अग्नि का भान, द्वितीय ज्ञान में दाहादि–रूप अर्थक्रिया और तृतीयादि ज्ञानों में उत्तरोत्तर अर्थक्रिया का भान होता है वहाँ अवश्य ही पूर्व–पूर्व ज्ञान को उत्तरोत्तर ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था प्रसक्त होती है, किन्तु उपर्युक्त प्रसंग में ऐसा नहीं है। जिस द्वितीय अर्थक्रियास्थिति–ज्ञान से पूर्ववर्ती ज्ञान के प्रमाण्य का अधिगम होता है वह द्वितीय ज्ञान स्वतः ही प्रमाण होता है (तत् सुतरामेव प्रमाणम्) क्योंकि उस एक ही ज्ञान में विषय और उसकी अर्थक्रिया दोनों का अधिगम होता है। अतः अनवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। शान्तरक्षित भी यह प्रश्न उठाकर कि प्रथम ज्ञान की अपेक्षा द्वितीय ज्ञान में कौन सी विशिष्टता होती है कि पहले का परतः प्रमाण्य और दूसरे को स्वतः प्रामाण्य माना जाता है, कुछ इसी प्रकार की अभ्युक्ति प्रस्तुत करते हैं। संक्षेप में शान्तरक्षित और कमलशील दोनों का आशय यह है कि प्रथम ज्ञान में केवल वस्तुस्थिति की ज्ञापकता होती है, प्रापकता नहीं। इसीलिए वह ज्ञान न तो मनुष्य को उस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्थान पर ले जाता है जहाँ पर वह विषय है और न ही विषय को ही ज्ञाता के पास उठाकर ले आता है। परन्तु द्वितीय ज्ञान अर्थात् अर्थक्रियास्थिति का अतिशय यह है कि वह ज्ञापकता और प्रापकता दोनों का आश्रय होता है। इसलिए प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य परतः होता है और द्वितीय का स्वतः।[9] शान्तरक्षित और कमलशील[10] ने अन्य तरीके से भी अनवस्था का परिहार दिखाया है। वस्तुतः ज्ञान को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है– सन्निकृष्ट विषय वाला और असन्निकृष्ट विषय वाला। इसमें पहले प्रकार के ज्ञान का प्रामाण्य–निश्चय ज्ञान के कारणों के गुणावधारण से नहीं अपितु अर्थक्रिया के अविसंवादी ज्ञान के द्वारा होता है। जबतक अर्थक्रिया संवाद के द्वारा ज्ञान में सम्यकत्व का निश्चय नहीं हो जाता तबतक उसमें गुण का अवधारण सम्भव नहीं और जब सम्यकत्व ज्ञान में अवस्थित हो तो उत्तरवर्ती अर्थक्रिया संवाद के द्वारा पुनः उसमें गुण का अवधारण अकिंचित्कर ही है। जहाँ ज्ञान विप्रकृष्ट विषय वाला होता है, जैसे सुवर्णशंखग्राही ज्ञान; तो उसके प्रामाण्य का निश्चय विशुद्ध कारणजन्यता के आधार पर हो जाता है। जो ज्ञान विशुद्ध कारणजनित होता है वह प्रमाण होता है– यद्विशुद्ध–कारणजनितं तत् प्रमाणम्।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर न्यायसम्मत परतः प्रामाण्यवाद और धर्मकीर्ति के परतः प्रामाण्यवाद के बीच के अन्तर का उपसंहार करते हुए कहा जा सकता है कि इन दोनों व्याख्याओं में 'द्वितीय ज्ञान'' की प्रस्थिति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद है जिससे प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का परतः अधिगम होता है। नैयायिक अपनी सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसीय निष्ठा के साथ इस द्वितीय ज्ञान (प्रवृत्तिसाफल्य) की प्रस्थिति के विषय में यही कहना चाहेंगे और उन्हें यही कहना भी चाहिए कि उसके लिए प्रामाण्य जिज्ञासितव्य नहीं है। उसकी प्रस्थिति का विचार स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य की कोटि में नहीं किया जाना चाहिए। यह प्रमाणमीमांसीय जिज्ञासा की उपरति की स्थिति है। परन्तु धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याकारों के मत में वह द्वितीय ज्ञान (अर्थक्रियास्थिति) स्वतः प्रामाण्य है। उसका परतः प्रामाण्य जिज्ञास्य नहीं, क्योंकि उसमें ज्ञान की ज्ञापकता और प्रापकता की एकनिष्ठता होती है। जहाँ ज्ञान की ज्ञापकता और प्रापकता में दूरी और अन्तराल रहता है वहीं प्रामाण्य की विवक्षा होती है और यह विवक्षा परतः रूप से ही पूर्ण हो सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

II

इस प्रकार प्रामाण्यवाद के विषय में धर्मकीर्ति का मत इस रूप में स्थिर होता है कि व्यवहार दशा में वह ज्ञान जिसके प्रामाण्य की जिज्ञासा प्रेक्षावान व्यक्ति के द्वारा की जाती है, उसके प्रामाण्य की सिद्धि परतः ही होती है और वह ज्ञान जिसके द्वारा पूर्ववर्ती ज्ञान के प्रमाण्य को सिद्ध किया जाता है वह स्वतः प्रामाण्य होता है। परन्तु इस निष्कर्ष से जो एक दूसरी बात सामने आती है वह यह कि सांव्यावहारिक क्षेत्र के सभी ज्ञानों को प्रामाण्य की दृष्टि से एक कोटि का नहीं कहा जा सकता। उनके प्रामाण्य का निश्चय किसी एक सिद्धान्त (स्वतः अथवा परतः) का आश्रय लेकर सम्भव नहीं। अतः इस बात की खोज की जानी चाहिए की व्यवहार दशा में वे कौन–कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिसमें ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः और कौन–कौन सी परिस्थितियों में ज्ञान का प्रामाण्य परतः निश्चित होता है। इससे प्रामाण्यवाद की समस्या पर विचार करने का एक नया ही आयाम उद्घाटित हो सकता है, जहाँ हम एकल सैद्धान्तिक निष्ठा से मुक्त होकर यथोपलब्धिन्याय का अनुसरण करते हुए प्रामाण्याप्रामाण्य की समस्या पर पुनर्विचार कर सकते हैं।

बौद्ध और जैन परम्परा के उत्तरकालीन प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रामाण्य की समस्या पर इसी दृष्टि से विचार करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसलिए दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के पश्चात् अधिकांश टीकाकारों ने धर्मकीर्ति का अनुसरण करते हुए भी अपनी रचनाओं में उन परिस्थितियों और ज्ञान के उन प्रकारों को यत्र–तत्र संकेतित किया है जिनमें कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और कुछ का परतः अधिगत होता है।[11] देवेन्द्रबुद्धि ने अर्थक्रियाज्ञान और अनुमान को स्वतः प्रमाण माना है जबकि वैसे प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को परतः कहा है जिसमें भ्रान्ति के निमित्तों का अपनोदन नहीं हुआ रहता है। शाक्यबुद्धि ने अर्थक्रियासमर्थ वस्तु के वैसे प्रत्यक्ष को जहाँ संशय और भ्रान्ति के लिए अवकाश न हो तथा अनुमिति और अर्थक्रियास्थिति – ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य होने का संकेत किया है। साथ ही साथ प्रवर्त्तक मात्र प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को परतः माना है जिसमें भ्रान्ति के तथाकथित कारणों का निश्चय नहीं हुआ हो। इसी तरह धर्मोत्तर ने अर्थक्रियानिर्भासी प्रत्यक्ष, अभ्यासदशापन्न प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रामाण्य को स्वतः माना है जबकि परतः प्रामाण्य के अन्तर्गत उन्होंने चार प्रकार के प्रत्यक्षों को परिगणित किया है। प्रथम, वह प्रत्यक्ष जिसमें ज्ञान का अर्थ से अविनाभाव संशययुक्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हो (अर्थाविनाभाव संशयः)। द्वितीय, वैसा प्रत्यक्ष जिसमें प्रतिभासमान अर्थ संशयास्पद हो। तृतीय, ऐसा प्रत्यक्ष जिसमें सामान्य धर्म तो स्पष्ट रूप से विदित होता है लेकिन विशेष धर्मों का ज्ञान विविक्त रूप से प्रतिभासित नहीं होता है। ऐसी स्थिति में सामान्य धर्म (धर्मीज्ञान) का ज्ञान तो स्वतः प्रामाण्य लेकिन विशेष धर्मों (धर्मज्ञान) के ज्ञान का परतः प्रामाण्य होता है। चतुर्थ, ऐसे प्रत्यक्षों का प्रामाण्य भी परतः अधिगत होता है जहाँ स्वयं प्रत्यक्ष के स्वरूप को लेकर अनिश्चय की स्थिति रहती है। मनोरथनन्दी[12] ने अर्थक्रियानिर्भासात्मक प्रत्यक्ष और अनुमिति के प्रामाण्य को स्वतः माना है। साथ ही साथ कुछ ऐसे भी प्रत्यक्ष होते हैं जिनके प्रामाण्य निश्चय के लिए अर्थक्रियासमर्थ वस्तु की प्राप्ति की अपेक्षा नहीं होती बल्कि अभ्यास की दृढ़ता (असकृद् व्यवहाराभ्यासाद्) के कारण उनमें अर्थक्रियासमर्थ वस्तु की प्रापणयोग्यता स्वतः प्रमाणित रहती है। इसके अतिरिक्त अनभ्यासदशापन्न प्रत्यक्षों का प्रामाण्य सन्दिग्ध होने से उनके प्रामाण्य का निश्चय उत्तरकालीन अर्थक्रियाज्ञान से अथवा अनुमान से होता है। दुर्वेकमिश्र[13] भी प्रापणशक्ति को ही ज्ञान का प्रामाण्य मानते हैं। वह प्रापणशक्ति प्राप्त होने वाले अर्थ के कारण आत्मलाभ का निमित्त होती है क्योंकि जिसके द्वारा प्रवर्तन होता है वह भी प्रापणयोग्य ही है। अर्थक्रिया को निर्भासित करने वाले सभी अनुमानों में इस प्रापणशक्ति रूप प्रामाण्य का निश्चय स्वतः हो जाता है। प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष में जहाँ अभ्यास के चलते विभ्रम की आशंका चारो तरफ से समाप्त हुई रहती है वहाँ भी प्रापणशक्ति का निश्चय स्वतः हो होता है। साथ ही साथ निद्रा से अनुपप्लुत पास वाले स्थान में रहने वाली वस्तु का ग्रहण, जिसमें किसी अन्य व्यंजक के कारण किसी अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की आशंका न हो, भी स्वतः हो जाता है। उसके स्वरूप की संवेदना से ही उसके वास्तविक अर्थ का निश्चय हो जाता है। ऐसे ही कहीं पर प्रापणशक्ति का निश्चय परतः भी होता है। परतः का अर्थ है अर्थक्रियानिर्भासात्मक स्वतः प्रमाण से अन्य किसी स्रोत से, जैसे कि दूरस्थ किसी अर्थ को देखने से बीच के काल में होने वाली शंका को हटाकर होने वाला निश्चय।

यहाँ उल्लेखनीय है कि सन्दर्भ विशेष में प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का प्रश्न न्याय परम्परा में भी उठता रहा है, जबकि नैयायिक उभयतो परतःवाद (प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का परतः निश्चय) की एकलनिष्ठा के अभिमानी माने जाते हैं। अनुव्यवसाय, अनुमिति, फलज्ञान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अभ्यासदशापन्न ज्ञान ऐसे होते होते हैं जिनमें मध्यवर्ती संशय के लिए कोई गुंजाईस नहीं होती। इसलिए न्यायमत में ऐसे ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य माना जाता है। यद्यपि बहुसंख्यक नैयायिक इसे स्वीकार नहीं करते हैं फिर भी प्रकृत प्रसंग में इतना कहना ही पर्याप्त है कि न्याय परम्परा में भी इस प्रश्न को उठाया गया है। यह बात अलग है कि बाद में जयन्त भट्ट, उदयन और गंगेशोपाध्याय ने इसकी भर्त्सना करते हुए भुरिशः खण्डन किया है। जैन परम्परा में भी उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य के परतस्त्व और स्वतस्त्व को लेकर कितना भी उहापोह क्यों न किया गया हो लेकिन बौद्ध प्रभाव में अन्ततः उनका झुकाव प्रामाण्य के प्रति क्वचित् स्वतः और क्वचित् परतः का ही रहा है। परीक्षामुख का सूत्र ही है– तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति। प्रभाचन्द्र[14] ने इसकी व्याख्या करते हुए "प्रामाण्यमुत्पत्तौ परतः एव। ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वतः परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया" कहा है। "प्रामाणनयतत्त्वालोक में भी "तदंयमुत्पत्तौ परतः एवं ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति" कहा गया है। जैन प्रमाणमीमांसा का सर्वाधिक व्यवस्थित और समीक्षित रूप हेमचन्द्र की 'प्रमाणमीमांसा' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में प्रामाण्यवाद के जैन पक्ष को रखते हुए किसी एक सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया गया है बल्कि बलाघात इस बात को दिखाने में है कि प्रामाण्य का निश्चय कुछ स्थलों पर स्वतः और कुछ स्थलों पर परतः होता है।[15] उदाहरण के लिए अभ्यासदशापन्न स्वकरतल आदि के ज्ञान में अथवा स्नान–पान, अवगाहन और पीपासा शान्ति आदि में तथा अर्थक्रियानिर्भासक प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है। ऐसे स्थलों में प्रेक्षावानों को परीक्षा करने की आकांक्षा नहीं होती। प्रथमतया जल का ज्ञान होता है, उसके बाद गर्मी अथवा प्यास से पीड़ित व्यक्ति की उसमें प्रवृत्ति होती है। तदुपरांत जल की प्राप्ति और स्नान–पान आदि के बाद गर्मी से राहत और पीपासा की शान्ति। इतने से ही प्रेक्षावान प्रमाता कृतकृत्य हो जाता है। यह नहीं कि वह दाह और पीपासा शान्ति के अनुभव की परीक्षा करता है। अतः ऐसे सभी ज्ञानों के प्रामाण्य को स्वतः मानने में कोई कठिनाई नहीं। पुनः उस प्रकार की अनुमिति जिसमें व्यभिचार शंका का सर्वथा निरास हो चुका है, उसके प्रामाण्य का निश्चय भी स्वतः ही होता है। अव्यभिचारी लिंग से उत्पन्न अनुमिति का आकार लिंगाकार होता है और लिंगाकार ज्ञान लिंग के बिना तथा लिंग लिंगी के बिना नहीं हो सकता। वैसे ही अनभ्यासदशापन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्यक्ष में चूँकि अर्थ के साथ उसका अव्यभिचार गृहीत नहीं रहता, अतः उसका समान विषय वाले संवादक ज्ञान से, दूसरे ज्ञान से अथवा अर्थक्रियाज्ञान से, या फिर अविनाभाव के दर्शन से परतः ही निश्चित होता है। परन्तु अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य निश्चय सुतरां स्वतः ही गृहीत हो जाता है। जहाँ तक शब्द प्रमाण का प्रश्न है तो दृष्ट अर्थ से उसके अव्यभिचार का ज्ञान दुष्कर होने से संवाद इत्यादि के अधीन ही उसके प्रमाण्य का निश्चय माना जा सकता है। परन्तु अदृष्ट विषयों के सन्दर्भ में दृष्टार्थ चन्द्रग्रहण आदि के प्रतिपादक ज्ञानों के संवाद से प्रामाण्य निश्चित हो जाने पर आप्तवचन रूप शब्द का प्रामाण्य बिना संवाद के ही सुनिश्चित हो जाता है।

III

शान्तरक्षित और कमलशील ने इस समस्या पर अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता से विचार किया है। इनकी विशिष्टता यह है कि बौद्ध, जैन, और न्याय परम्परा के अन्य विद्वानों ने जहाँ केवल प्रामाण्य को लेकर ही उसके कस्यचित् स्वतः और कस्यचित् परतः होने का संकेत किया है वहीं कमलशील प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के स्वतस्त्व एवं परतस्त्व का विचार संदर्भ–संवेदी रूप से करते हैं। इन्होंने प्रामाण्याप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व को जिसतरह सूचीबद्ध किया है वह भी अन्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कमलशील[16] ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, योगिज्ञान, अभ्यासवत् प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वतः प्रामाण्य माना है जबकि चोदनाजन्य और भ्रन्ति के निमित्तों से अनुपगत प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को परतः बताया है। पुनः अभ्यासवत् प्रत्यक्ष की भूमिका को वे अन्यों की तरह केवल प्रामाण्य के स्वतः निश्चय तक सीमित नहीं करते बल्कि उसका विस्तार मिथ्याज्ञान पर्यन्त करते हैं। जैसे अभ्यासबल से कुछ एक ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है उसी प्रकार अभ्यासबल से कतिपय मिथ्याज्ञानों का अप्रामाण्य भी स्वतः निश्चित हो जाता है।[17]

इस प्रकार देवेन्द्रबुद्धि से कमलशील पर्यन्त उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति के बाद और धर्मकीर्ति की व्याख्या करते हुए भी बौद्ध परम्परा के अन्दर ही अन्दर प्रामाण्य के प्रश्न को लेकर एक भिन्न प्रवृत्ति विकसित हो रही थी। इस प्रवत्ति को उस एकल सैद्धान्तिक निष्ठा का विरोधी कहा जा सकता है जिसके तहत हम यह मान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लेते हैं कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दानों की व्याख्या या तो स्वतः या फिर परतः रूप से ही की जा सकती है। वस्तुतः यह विरोध संकलित और संगठित होकर प्रामाण्यवाद पर एक नये सिरे से विचार करने की भूमि तैयार करता है। शान्तिरक्षित और कमलशील ने इस विचार–भूमि को पहचाना और उसे सकल प्रामाण्यव्यापिनी बनाकर एक वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। कमलशील इसे प्रामाण्यवाद की अनियमवादी बौद्ध दृष्टि कहते हैं। यह बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा से कहाँ तक संगत है, यह निश्चित ही एक विचारणीय प्रश्न है, फिर भी, शान्तरक्षित और कमलशील ने इसे भारतीय प्रामाण्यवाद के चतुर्विध पक्षों की समीक्षा का फलितार्थ कहा है। इन दोनों आचार्यों ने तत्त्वसंग्रह और तत्त्वसंग्रहपंजिका में इसकी प्रतिष्ठापना एक व्यापक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में की है। अवधेय हो कि मीमांसक भी प्रामाण्यवाद की समीक्षा उसके चतुर्विध विकल्पों की अवधारणात्मक योजना में करतें हैं। उन्होंने तीन विकल्पों का खण्डन करके चतुर्थ विकल्प (प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः) को अपना सिद्धान्त पक्ष बनाया है। अब शान्तरक्षित और कमलशील प्रामाण्यवाद के चारों विकल्पों की समीक्षा करते हैं (ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों आचार्यों ने विशेष रूप से मीमांसा सम्मत स्वतः प्रामाण्यवाद का ही खण्डन किया है और शेष तीन पक्षों का मीमांसकों द्वारा खण्डन किये जाने से ही खण्डित मान लिया है) और पंचम विकल्प के रूप में अनियमवाद का प्रस्ताव करते हैं।[18] इस अनियमवाद को यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो इसे 'संन्दर्भ–संवेदी प्रामाण्यवाद' से अभिहित करना अधिक उचित होगा। देवेन्द्रबुद्धि से कमलशील पर्यन्त बौद्ध प्रमाणमीमांसकों ने जिन–जिन ज्ञान–स्थलों को उदाहरित कर प्रामाण्य–निश्चय के प्रति नियमवादी दृष्टि का विरोध किया है, उससे वास्तव में अनियमवाद फलित नहीं होता बल्कि प्रामाण्य–निश्चय का सन्दर्भ–संवेदी विचार उद्घाटित होता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सन्दर्भ–संवेदी निर्धारण को ही प्रामाण्यवाद के प्रति बौद्ध प्रमाणमीमांसकों का विशिष्ट योगदान कहा जा सकता है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. तत्त्वसंग्रह पंजिका, स्वतः प्रामाण्य परीक्षा, 2810–11– तथा हि चत्वारः पक्षाः सम्भवन्ति– कदाचिदुभे अपि प्रामाण्यप्रामाण्ये स्वत एवेति प्रथमः, कदाचिद्परत एवेति द्वितीयः, प्रामाण्यं परतोऽप्रमाण्यं तु स्वत ऐवति तृतीयः, एतद्विपर्यश्चतुर्थः।
2. दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में बुद्ध को 'प्रमाणभूताय' कह कर स्तोत्राभिधान किया है–प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। अतः बुद्ध को 'प्रमाणभूत' कहने का आशय यही है कि उनके ज्ञान में प्रामाण्य उत्सर्गतः अर्थात् स्वाभाविक रूप से स्वतः ही रहता हैं।
3. तत्त्वसंग्रह (पंजिका), न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतोऽपिपक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्ष–स्येष्टत्वात्। तत्त्वसंग्रह, सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, पृ.– 981, वाराणसी, 1968।
4. प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणसिद्धिः, 6 एवं 7वीं कारिका का अर्द्धांश।
5. वही, 3, प्रमाणमविसंवादी ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिः।
6. प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य, न खलु ज्ञानस्वरूपमात्रावगताविदं प्रमाणमितिभवति। किन्तर्हि, अर्थस्य दाहपाकादेः क्रियानिष्पत्तिस्तस्याः स्थितिरविचलनमविसंवादनं व्यवस्था वा। सा च अर्थक्रिया भविनी न तत्काले। ततस्तत्संम्बन्धो न स्वरूपसंवेदनमात्रावधृतः। स्वामी योगीन्द्रानन्द, प्रमाणवार्त्तिकम् (वार्त्तिकालंकार–व्याख्योपेतवार्तिकलंकारभाष्यसहितम्), प्रथम भाग, पृ.–4, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी–1991।
7. द्रष्टव्य, तत्त्वसंग्रह, कारिका–2959–2962 और उसपर पंजिका व्याख्या।
8. प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य (स्वामीयोगीद्रानन्द), पृ.–5, यात्रार्थक्रियास्थितिरपरोप–कल्पिता तद् यावत् प्रमाणम्। यत्र तु स्वतस्तदैवार्थक्रियानुभवः, तत् सुतरामेव प्रमाणम्।
9. द्रष्टव्य तत्त्वसंग्रह, कारिका–2958 से 2961 पर पंजिका व्याख्या।
10. तत्त्वसंग्रह, कारिका– 2988 से 2989 पर पंजिका व्याख्या।
11. क्रास्सर हेलमेट ने इन सन्दर्भों को देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, धर्मोत्तर, कमलशील और मनोरथनंदी की रचनाओं से एकत्रित किया है परन्तु कुछ टीकाकार जैसे दुर्वेकमिश्र को उन्होंने छोड़ दिया है। द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ इण्डियन फिलोसॉफी, अंक 31, सं. 1–3, वर्ष 2003, पृ. 161 से 184, क्रास्सर हेलमेट, ऑन दी एस्सरटेन्मेंट ऑफ वैलिडिटी इन दी बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजिकल ट्रेडिसन।
12. प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दी वृत्ति सहित), सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1987, पृ. 4– अर्थक्रियानिर्भासं तु प्रत्यक्षं स्वतः एवार्थक्रियानुभवात्मकम्, न तत्र परार्थक्रियाऽपेक्ष्यते इति तदपि स्वतो निश्चित प्रामाण्यम्। अतएवार्थक्रियापरम्परानुसरणादनवस्था दोषोऽपि दुःस्थ एव। यत्त्वनभ्यस्तदशायां सन्दिग्धप्रामाण्यम्, उत्पत्तौ तस्यार्थक्रियाज्ञानाद्, अनुमानाद्वा प्रामाण्यं निश्चीयते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

13. धर्मोत्तर प्रदीप, सम्पादक, दलसुखभाई मलवाणिया, के.पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, 1955, पृ.19– अतएव प्रापणशक्तिरेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम्। सा च प्राप्यादर्थादात्मलाभ निमित्तेति, यतो येन प्रवर्तते तदपि प्रापणयोग्यमेव। शक्तिनिश्चयस्त्वर्थक्रियानिर्भासस्य र्स्वस्यानुमानस्य च स्वत एव। प्रवर्त्तकाध्यक्षस्य च कस्यचित्स्वत एव यदभ्यासेन परितो निरस्तविभ्रमाशंकम्, यन्निद्राद्यनुपप्लुतं सद् आसन्नदेशमनाशंक्यव्यंजकाधीनाऽन्यथाभिव्यक्ति च वस्तु गृहणाति। तद्रुपसंवेदनादेव सत्यार्थं निश्चीयते। कस्यचित् परतोऽर्थक्रियानिर्भासात्मकात् स्वतः प्रमाणादन्यतो वा यतः कुतश्चिन्नान्तरीयकार्थदर्शनान्मध्यकालवर्तिभ्रान्तिशंकापनोदेन् निश्चीयत इति।
14. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ.149
15. प्रमाणमीमांसा वृत्ति, पृ.6(1.1.8)
16. तत्त्वसंग्रह,2943–44 पर पंजिका व्याख्या– तैः किंचिद् स्वतःप्रमाणमिष्टम्, यथास्वसंवेदनप्रत्यक्षं, योगिज्ञानम्, अर्थक्रियाज्ञानम्, अनुमानम्, अभ्यासवच्च प्रत्यक्षम्, तद्धि स्वत एव निश्चीयते; अभ्यासबलेनापहस्तितभ्रान्तिकारणत्वात्। किंचिद् अन्यतः यथा– विवादास्पदीभूतं चोदनाजनित ज्ञानम्, प्रत्यक्षं चानपगतभ्रान्तिनिमित्तम्; अभ्यासार्थक्रियाज्ञानयोरनवाप्तत्त्वात्।
17. तत्त्वसंग्रह, 3099 – अभ्यासिकं यथा ज्ञानं प्रमाणं गम्यते स्वतः। मिथ्याज्ञानं तथा किंचिदप्रमाणं स्वतः स्थितम्।। कमलशील ने अपनी पंजिका व्याख्या में स्पष्ट करते हुए कहा है– तथा मिथ्यात्वमपि कस्यचित् स्वत एवावसीयते। यथा च दृश्यन्त एव तैमिरिकादयः केचित् अभ्यासबलात् केशेण्ड्रकादिविज्ञानमुत्पादसमनन्तरमेव मिथ्यात्वेन् निश्चिन्वन्तः।
18. तत्वसंग्रह, 3122 पर पंजिका व्याख्या – यत्तु पक्षचतुष्टयमुपन्यस्य पक्ष त्रये दोषाभिधानं कृतम्, तत्रापि न काचित् बौद्धस्य क्षतिः, न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथा हि उभयमप्येतत्किंचित् स्वतः, किंचित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः; पंचमस्याप्यनियमपक्षस्य सम्भवात्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषा एवं अर्थ : प्लेटो से विटगेंस्टाइन तक

अशोक वोहरा

यदि हम शब्दों को हूबहू उसी रूप में समझते जैसे वे होते हैं, यानि अपने विचारों के प्रतीक मात्र के रूप में, न कि स्वयं वस्तुओं के रूप में, तो संसार में आज कहीं कम विवाद होते।

– जॉनलॉक

संपूर्ण जगत शब्दों से उत्पीड़ित है, और शब्दों के बिना कोई भी नहीं रह सकता।
किन्तु जब तक कोई शब्दों से स्वतंत्र नहीं हो सकता,
तब तक वह शब्दों को नहीं जान सकता.

– सराह, बौद्ध कवि और संत, ग्यारवीं सदी

"भाषाएँ मानवीय मन का सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्ब होती हैं। शब्दार्थ के यथारूप या तत्त्व परक विश्लेषण से हमें किसी भी अन्य विधा की तुलना में कहीं अधिक गहराई से अपने समझने की प्रक्रियाओं के बारे में जानकारी मिलती है।" लायबनित्ज के इस कथन से हमें पाश्चात्य दर्शन में भाषा के अध्ययन एवं उसके विश्लेषण को जो केंद्रीय महत्त्व प्राप्त है, उसके कारण का पता चलता है। सांसारिक सत्य और ज्ञान की हमारी खोज के परिणामों को हम वाक्यों, वाक्यांशों, कथनों और प्रतिज्ञप्तियों में, या संक्षेप में कहें तो, भाषा में, अभिव्यक्त करते हैं। ऐसा कहते हुए मुझे विटगेंस्टाइन की भाँति तत्काल यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यहाँ पर 'भाषा' शब्द का प्रयोग मैं सर्वसमावेशी अर्थ में कर रहा हूँ। भाषा के इस प्रयोग में बोल–चाल और लिखित भाषा के साथ–साथ संकेत जैसे सम्प्रेषण के विविध अन्य माध्यम भी शामिल हैं। भाव यह है कि 'भाषा' की इस सर्वसमावेशी संकल्पना में न केवल बोलने–सुनने व कहने–कहलाने वाली भाषा ही सम्मिलित है, अपितु निस्संदेह रूप से इस

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से कल्पना में भाषेतर (non–linguistic) निष्पादन क्रियाएँ (performative acts) भी सम्मिलित हैं। भारतीय सन्दर्भ में लगभग यही बात पद की अवधारणा पर विचार करते हुए नव्य–नैयायिक भी करते आये हैं। इस अर्थ में भाषा केवल मन की अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं होती, अपितु वह तो वैयक्तिकीकरण का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन भी होती हैं। भाषा अभिव्यक्ति में हमारी सहायक होकर हम पर अपनी अनन्य, अपूर्व और अमिट छाप छोड़ने का गुरुतर कार्य करती है, सबसे बड़ी बात यह है कि हमारी अप्रतिम पहचान बनाने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार की वैयक्तिकीकरणता के साथ–साथ भाषा एक प्रकार की समाजिकीकरणता का कार्य भी साथ–साथ करती रहती है। वह हमें समाज के उन सब लोगों के साथ भी जोड़ देती है जो उस भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा की इन दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं – यानि एक ओर तो वह हमारे वैयक्तिकीकरण, और हमारी पहचान बनाने का पूर्णतः वैयक्तिक और निजी कार्य करती है, दूसरी ओर वह एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति, या व्यक्तिओं से जोड़ने का सार्वजनिक व सामाजिक कार्य करती है। इन परस्पर विरोधी वृत्तियों के कारण भाषा हमारे लिए एक अनबूझ पहेली बनी रहती है। वस्तुतः वह मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी अनबूझ पहेलियों में से एक है। यही कारण है कि मानव आदिकाल से ही इस पहेली को 'बुझाने' का प्रयास करता रहा है। लेकिन यह गुत्थी है जो सुलझने में ही नहीं आ रही। हमारे अथक प्रयासों के बाद भी अभी तक इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल पाया है।

भाषा और उसके अवयवों के बीच सम्बन्ध, उन अवयवों का जीवन में प्रयुक्त विषय–वस्तुओं से सम्बन्ध, किसी शब्द अथवा नाम से उसके द्वारा बोधित होने वाले पदार्थ का सम्बन्ध, ये सब सम्बन्ध कैसे बनते हैं या फिर ये सम्बन्ध स्वरूपतः क्या हैं, ये प्रश्न, और यह प्रश्न कि आखिरकार हम भाषा सीखते कैसे हैं; प्राचीन भारतीय दर्शन एवं पुरातन ग्रीक दर्शन के गंभीर गवेषक आचार्यों से लेकर आधुनिक विश्व के तत्त्ववेत्ताओं को भी उद्वेलित करते रहे हैं। वस्तुतः वे इनका कोई सटीक व सार्वजनिक रूप से मान्य उत्तर ढूँढ भी नहीं पाए हैं। इस का कारण यह है कि भाषा को ग्रहण करने की तकनीक और उसमें सन्निहित सिद्धांत में ही भाषा, उसके प्रत्ययों एवं मन के स्वरूप के बारे में विचार अपरिहार्य रूप से निहित होते हैं। भाषा से ही अपने ज्ञान की स्थिति एवं उसकी कोटि का यथार्थ आकलन होता है। भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से ही अपनी सभ्यता की स्थिति, और उसका अन्य सभ्यताओं से तुलनात्मक अध्ययन, आदि कार्य संभव हो पाते हैं। भाषा ही हमें अपनी संस्कृति, अपने समूह, अपने समाज, राजनीति और अपनी राज्य–व्यवस्था से अवगत कराती है। भाषा और जगत् में किस प्रकार का सम्बन्ध है, उसका उद्‌गम क्या है, और वह कैसे बनता है और परिचालित होता है – ये प्रश्न भाषा–दर्शन के मुख्य प्रश्न हैं। इन प्रश्नों में 'भाषा और जगत् के मध्य का सम्बन्ध', 'नाम और पदार्थ के मध्य का सम्बन्ध', 'प्रतिज्ञप्ति और वस्तु–स्थिति के मध्य का सम्बन्ध', भाषा को सिखाने और सीखने में सम्बन्ध', इन संबंधों का 'वाक्य और कथन में सम्बन्ध' इत्यादि सम्बन्ध से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। इसलिए यह प्रश्न अंततः निम्न प्रश्नों के रूप में आकार ग्रहण कर लेता है : 'भाषा कैसे सीखते हैं? शब्द पदार्थों को इंगित कैसे करते हैं या फिर शब्दों और उनके द्वारा द्योतित पदार्थों में किस प्रकार का सम्बन्ध होता है ? वाक्य, कथन और प्रतिज्ञप्तियाँ कैसे वस्तु स्थिति या जगत् का प्रतिनिधित्व कर पाते हैं या फिर उनका विवरण दे पाते हैं ? बाह्य जगत् में स्थित वस्तुभूत पदार्थों के बारे में भाषा कैसे हमें बता पाती है ? क्या उनका पता हमें वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ जानने से होता है, या फिर संपूर्ण वाक्य के अर्थ को उसके परिपेक्ष्य में जानने से होता है ?' संक्षेप में कहा जा सकता है कि सार्वभौम माध्यम के रूप में भाषा और जगत् में, यदि कोई हो तो, पारस्परिक सम्बन्ध कैसा है ? विटगेंस्टाइन के शब्दों में इसी बात को ऐसे कहा जा सकता है कि "संकेत (चिन्ह) संसार से कहाँ जुड़ता है?" (फिरि, पृ. 32)

I

नव्य–न्याय दर्शन सम्प्रदाय को छोड़कर भारतीय दर्शन के लगभग सभी आस्तिक सम्प्रदायों का यह मत है कि भाषा दैविक है। ऋग्वेद के अनुसार "जगत् के रचनाकार ईश्वर ने प्रतीयमान संसार के अनुरूप ही भाषा की संरचना की है, इसी भाषा का प्रयोग जन साधारण करता है।[1]" ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा (1.114.8) के अनुसार "जहाँ तक ब्रह्म की पहुँच है, वहाँ तक वाक् की भी पहुँच है – ऋग्वेद का मत है कि ब्रह्मज्ञानी ही भाषा को पूर्ण रूप से जान सकता है। ऋचा 1,164.45 के अनुसार "वाक्य अथवा भाषा" के चार भाग होते हैं, केवल ब्रह्मज्ञानी को ही उन चारों भागों का ज्ञान होता है। इनमें से तीन भाग गुह्य होते हैं, जबकि साधारण मनुष्य केवल चौथे भाग का ही प्रयोग करते हैं।" व्याकरण सम्प्रदाय और मीमांसा दर्शन के दार्शनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषा को नित्य मानते हैं। आस्तिक भारतीय दर्शन परम्परा में वेदों को अपौरुषेय माना गया है। मीमांसा दर्शन के दार्शनिक वेदों के अपौरुष्यत्व की अवधारणा के समर्थन में ठोस तर्क देते हैं। अपने महाभाष्य में पतंजलि भी इस मत का समर्थन करते हैं कि शब्द, उनके अर्थ और इन दोनों में सम्बन्ध नित्य है। भर्तृहरि वाक्यपदीय और उसकी वृत्तियों में भाषा की नित्यता का समर्थन करते हैं। वाक्य और भाषा में व्यापक सम्बन्ध पर वृत्ति (वाक्यपदीय वृत्ति 1.112) इस प्रकार विवरण देती है : "वाक्य ने समस्त संसार को आवृत कर लिया है; वाक्य ही नित्य एवं अनित्य है। वही भोक्ता है; वही है जो अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ करता है, वाक्य से परे कुछ भी नहीं है या यूँ कहें की ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वाक्य समझ न सकती हो।[2]" उपनिषदों में भी अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जो भाषा के दैविक उद्‌गम की अवधारणा का समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ, कठोपनिषद् मंत्र 1.2.15,17, तैत्तिरीय उपनिषद् मंत्र 1.8.1, छान्दोग्य उपनिषद् मंत्र ii 23.3, माण्डूक्य उपनिषद् मंत्र 1 में ऊँ शब्द को परम सत्ता ब्रह्म कहा गया है. बृहदरण्यक उपनिषद् के मंत्र iv, 12 में कहा गया है कि "वाक्य ही सब कुछ है, और वही परमसत्ता ब्रह्म है – वागवै समरत परमं ब्रह्म।

प्लेटो अपनी पुस्तक क्रातिलुस में भाषा के दैविक उद्‌गम की उस अवधारणा को सिरे से नकारता है जो यह कहती है कि मनुष्य को सबसे पहला शब्द ईश्वर की देन है। इस अवधारणा को नकारने का उनका मुख्य कारण यह है कि उनके विचार में "यह निर्णय किसी तर्क पर आधारित न होकर, कारण (तर्क) के संबंध में अपने अज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र है।" उनके अनुसार हम यह नहीं कह सकते कि हमारी भाषा को निर्मित करने वाले मौलिक नामतत्त्व हमारे लिए ईश्वर प्रदत्त आद्य उपहार हैं; हम यह भी नहीं कह सकते कि "मूल नाम ईश्वर द्वारा दिए गए हैं, अतः वे बिलकुल ठीक हैं।" उनका तर्क है कि इस प्रकार के तर्क का तार्किक अंत हमें इस निष्कर्ष पर ले जाएगा कि हमारी भाषा ईश्वर से पहले आने वाले बर्बर लोगों की देन है। उनके अनुसार मूल नामों के उद्‌गम के लिए देवताओं का सहारा लेना "एक ऐसा तर्क है जो भाषा का उद्‌गम बर्बर लोगों से निगमित करता है, क्योंकि बर्बर लोग हम से कहीं अधिक पुरातन हैं, या हम कह सकते हैं कि उनकी पुरातनता ने उन पर पर्दा डाल दिया है। यह उसी प्रकार का तर्क है जो हम पहले दे चुके हैं। इस प्रकार के तर्क, तर्क न होकर शब्दों की सच्चाई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के बारे में हमारे पास कोई ठोस तर्क न होने का बहाना मात्र है।" किन्तु हमारे पास मूल नामों के उद्‌गम के बारे में कुछ ठोस तर्क तो होने ही चाहिए, क्योंकि प्रथम या मूल नामों के बारे में अज्ञानता गौण नामों के बारे में अज्ञानता को इंगित करती है। चूँकि गौण नामों की व्याख्या मूल नामों से ही की जा सकती है, अतः, भाषा के आचार्यों को मूल नामों की प्रांजल व्याख्या करनी ही पड़ेगी, अन्यथा वे शेष शब्दों के बारे में केवल निरर्थक बातें ही करेंगे!

अपनी पुस्तक 424 C, D, E और 425 A और B में प्लेटो हमारे 'पूर्वजों ने किस प्रकार भाषा की संरचना की' इस के बारे में बताते हैं। वे हमें विश्लेषण–पद्धति को अपनाने की सलाह देते हुए कहते हैं कि "यदि हम भाषा के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहते हैं, तो हमें अपने पूर्वजों द्वारा रचित भाषा का विश्लेषण करना होगा।" उनके अनुसार भाषा मूल एवं गौण इन दो प्रकार के मापदंडों द्वारा रचित होती है। पदार्थों का नाम होना स्वाभाविक है। वे कहते हैं कि "पदार्थों के नाम स्वाभाविक रूप से होते हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में नामकरण का कौशल नहीं होता। केवल वही व्यक्ति जो प्रत्येक पदार्थ के सहजनाम को पहचानता है और पदार्थों के स्वरुपों को अक्षरों और स्वरों में अभिव्यक्त कर सकता है वही नामकरण में सक्षम होता है (390 E)। नामकरण करने वाला व्यक्ति, या जिसे सुकरात 'नाम देने वाला व्यक्ति' कहते हैं वह (पदार्थों, वस्तुओं) के स्वभाव को समझ कर स्वरों और अक्षरों में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि वे उन के सार की प्रतिकृति बन जाते हैं (424 B)। दूसरे शब्दों में सुकरात का मत है कि नाम पदार्थों के मुख्य गुणों का सार होते हैं। अतः प्लेटो के अनुसार भाषा का प्रत्येक शब्द उसके द्वारा इंगित वस्तु स्थिति, पदार्थ या सदैव वस्तुओं का, प्रतिबिम्ब होता है।

प्रत्येक शब्द, स्वरूपतः सरल या जटिल नाम हुआ करता है। प्लेटो के अनुसार किसी भी प्रकार के विश्लेषण से पहले प्रत्येक मूल अथवा सरल नाम को 'नाम' कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि वह जहाँ तक संभव हो वहाँ तक, "पदार्थों के वास्तविक स्वभाव को प्रदर्शित करे" (423 B)। यही कारण है कि प्लेटो के नाम–सम्बन्धी विवरण में नाम अपनी इच्छानुसार, 'अपनी सुविधा अनुसार' नहीं दिए जाते, अपितु वे तो "प्रकृति के नियम अनुसार उचित साधनों द्वारा" दिए जाते हैं (387 D)। हेरमोजेनेस द्वारा दिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गए इस तर्क का प्लेटो खंडन करते हैं कि "परम्पराओं और सहमति के अतिरिक्त नामों का कोई औचत्य नहीं होता। किसी पदार्थ को आप जो भी नाम देते हैं वह उचित होता है, और जब आप उसी पदार्थ को कोई अन्य अर्थात् पहले से भिन्न नाम देते हैं तो वह पुराने नाम के समान उतना ही उचित होता है.... नाम निर्धारण का विज्ञान कुछ नहीं होता; उसमें केवल और केवल यादृच्छिकता होती है। क्योंकि, किसी भी पदार्थ का नामकरण प्रकृति द्वारा नहीं किया जाता; नामकरण तो परंपरा और प्रयोक्ता की रुचि पर निर्भर करता है" (384 D)। प्लेटो के अनुसार नामकरण की तुलना किसी अनुष्ठान–निष्पादन, किसी कार्य–विधि, से की जा सकती है। जैसे किसी कार्य का निष्पादन यादृच्छिक नहीं होता, अपितु वह उस कार्य या अनुष्ठान की उचित प्रकृति के अनुरूप होता है; यानी साधन प्राप्ति में उनकी उपयुक्तता के अनुसार होता है, न कि उन के बारे में हमारी राय के अनुसार। उसी प्रकार नामकरण का उद्देश्य भी पदार्थों का सारग्रहण करना है। नाम पदार्थों का सार ही होते हैं। वे उनके सार का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। विटगेंस्टाइन (ट्रैक्टेटस लोजीको फिलॉसोफिक्स) के अनुसार वे पदार्थों के हूबहू चित्र होते हैं। काटने की क्रिया का उदाहरण लेते हुए प्लेटो तर्क देते हैं कि "जिस प्रकार किसी वस्तु को हम अपनी इच्छानुसार, और किसी भी उपलब्ध यन्त्र द्वारा नहीं, अपितु उसे हम अपनी योजना अनुसार केवल उपयुक्त यन्त्र का प्रयोग करते हुए काटते हैं, और काटने की प्राकृतिक प्रक्रिया अपनाते हैं। यही प्राकृतिक प्रक्रियाएँ उचित और ऐच्छिक परिणाम प्राप्ति में में साधन होती हैं, जबकि अन्य प्रक्रियाएँ परिणाम प्राप्ति के लिए बेकार सिद्ध होती हैं (387A)", उसी प्रकार हम यादृच्छिक रूप से नामकरण नहीं करते। अतः प्लेटो के मतानुसार नाम "प्रकृतियों में भेद करने और उनके बारे में सिखाने का उपकरण होते हैं, जैसे कि कपड़े के धागों में भेद करने में भरनी" (388 C). "वाक् जिसकी नकल नाम द्वारा करता है", नाम, "उसी नकल को मुखरित करता है" (423 B)। नाम और उसके द्वारा इंगित पदार्थ में प्राकृतिक सम्बन्ध होता है, इस बात की प्लेटो निम्नलिखित व्याख्या देते हैं : "अपने हाथों को आकाश की ओर उठाना हल्के पन और उपरिमुखी होने को इंगित करता है; भारीपन और अधोमुख की अभिव्यक्ति हाथों को नीचे गिराकर की जाती है; यदि हम घोड़े के, या किसी अन्य पशु के दौड़ने का विवरण देना चाहें तो हमें अपने शरीर की स्थिति और अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाव–भंगिमा को जहाँ तक हो सके उन जैसा ही बनाना होगा" (423A)। जैसे हम मुखाकृति के इस चित्र को प्रसन्नता के प्रतीक के रूप में इसमें उपस्थित अर्धवृत्त के उपरमुखी होने के कारण मानते हैं और इसके उल्ट होने पर हम इसे उदासी का प्रतीक मानते हैं।

प्लेटो भाषा में शब्दों या नामों को पदार्थों के उन मुख्य और निश्चित गुणों की अभिव्यक्ति का साधन मानते हैं जिनके कारण उन पदार्थों या वस्तुओं का व्यक्तित्व निर्मित होता है। जो वस्तु के संघटक होते हैं वे शब्दों या नामों को उन पदार्थों या वस्तुओं के बारे में ज्ञान पाने का सर्वोपरि माध्यम मानते हैं। फिर भी वे यह जोर देकर कहते हैं कि नामों को समझने से ही हमें वास्तविकता का, वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं हो जाता। वे तर्क देते हैं कि वास्तविकता या वस्तुस्थिति और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध भाषाई भंवर और परिवर्तन के चक्र में खो जाता है। प्लेटो के अनुसार भाषा पदार्थों के वास्तविक स्वरुप का यथार्थतः कथन न करके, न बताकर उनके वास्तविक रूप को तोड़–मोड़ कर प्रस्तुत करती है। प्लेटो, सोफिस्ट्स के इस मत का खंडन करते हैं कि भाषा–विज्ञान से हमें यथास्थिति या सत्य का पता चल जाता है। प्लेटो की मान्यता है कि सत्य, शुभ और सुन्दर, जो उच्चतम वास्तविकता का द्योतन करती हैं, उसे मानव के नश्वर शब्दों के समतुल्य मानना बेहद खतरनाक हो सकता है। इसका प्रमुख कारण प्लेटो का यह मत है कि भाषा के साथ–साथ, पदार्थ को भी धोखा देने और ठगने कि लिए ढाला जा सकता है। उनका मत है कि सत्य, सुन्दर, एवं शुभ का एक स्थायी स्वरूप होता है, उसकी एक अबधनीय सत्ता होती है। परंतु उनको अभिव्यक्त करने कि लिए हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे परिवर्तनशील होते हैं। अतः वे सत्य, सुन्दर और शुभ के यथार्थ स्वरूप को न तो पकड़ पाते हैं और न ही उसको अभिव्यक्त कर पाते हैं। उनके अनुसार "नामों से पदार्थों का ज्ञान नहीं मिल सकता।" वे इस बात को बलपूर्वक कहते हैं कि भाषा के माध्यम से हमें उनके (पदार्थों के) वास्तविक स्वरुप का ज्ञान नहीं चल सकता, उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमें केवल तभी चल सकता है जब हम "उनका अध्ययन और मनन उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में करें" (439 B). प्लेटो का यह सिद्धांत कि भाषा वस्तुस्थिति का निरूपण नहीं कर सकती, नितान्त विरोधाभासी प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वे अपने सभी संवादों में शब्दों और प्रत्ययों को परिभाषित करने में बेहद सावधानी बरतते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उनके अधिकतर संवाद मुख्य शब्दों या प्रत्ययों की सही परिभाषा देने के प्रयास हैं। उदाहरणार्थ, मीनो "सद्गुण" की, रिपब्लिक "न्याय" की, यूथिपरो "ज्ञान" की और फेडो "आत्मा की अमरता" की व्याख्या करता है।

II

उपरि प्रदत्त विवरण से हमें पता चलता है कि प्लेटो का भाषा और नाम सम्बन्धी मत आदर्शवादी है और यह भी पता चलता है कि उनका भाषा सम्बन्धी विचार उनके पारलौकिक जगत् की अवधारणा पर, व उनकी औपचारिक और प्रागनुभविक पद्धति पर आधारित है। किन्तु, यही बात सभी ग्रीक दार्शनिकों पर लागू नहीं होती। अरस्तू के भाषा और नाम सम्बन्धी विचार किसी आदर्श पर नहीं अपितु उनके द्वारा प्राकृतिक संवृत्तियों के सघन प्रेक्षण पर आधारित है। अरस्तू पदों और वस्तुस्थिति के सम्बन्ध के अन्वेषण को अपना विषय नहीं बनाते, क्योंकि उनकी मान्यता है कि बुद्धि मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुस्थिति के प्रतिबिम्ब पर आधारित होती हैं – न कि स्वयं पदार्थ–निरपेक्ष सत्य पर। मनुष्य की बुद्धि शब्दों के प्रतीकों को, मन–मस्तिष्क में स्थापित करने के लिए, नामों को अर्थ देने के लिए न कि स्वयं पदार्थों को स्थान देने कि लिए ही हस्तक्षेप करती है। उदाहरणार्थ, अपनी पुस्तक डे एनिमा में अरस्तू एक ही पद के अर्थ के दो भिन्न प्रकारों में भेद करते हैं। वे पद के प्राकृतिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त भौतिक अर्थ में और दार्शनिकों द्वारा द्वन्द्वात्मक पद्धति में प्रयुक्त अर्थ में भेद करते हैं। वे क्रोध के उदाहरण से अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। प्राकृतिक वैज्ञानिक क्रोध को एक प्रकार की एक ऐसी भौतिक स्थिति मानते हैं जिसमें दिल के आस पास गर्म रक्त के बुलबुले इकठ्ठा हो जाते हैं; जब कि दार्शनिक क्रोध को बदला लेने की प्रवृत्ति मानते हैं। प्रकृति वैज्ञानिक 'क्रोध' को पदार्थ का एक रूप समझते हैं, तो वहीं दार्शनिकों के अनुसार 'क्रोध' एक विचार का द्योतन करता है। इसी प्रकार अरस्तू इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि 'मकान क्या होता है ?' दार्शनिक इस का उत्तर यह कह कर देगा कि "मकान आंधी, वर्षा, अत्याधिक गर्मी और सर्दी से बचाव के लिए एक आच्छादन है; जब कि एक प्रकृति वैज्ञानिक घर का वर्णन 'पथरों, ईंटों और लकड़ी' से बने किसी विशिष्ट आकार को देगा।[3] इस मत के अनुसार सच और झूठ नामों के नहीं, अपितु भाषा के गुण हैं। जैसा भी हो नाम सीमित होते हैं और पदार्थ असीमित। इस लिए नामों और पदार्थों में समरूपता होना असंभव है। इसके अतिरिक्त,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

किसी अस्तित्ववान पदार्थ को इंगित न करने पर भी नामों का कोई अर्थ होता है। वे किसी अमूर्त रचना, जैसे कि स्वयं प्लटो के विचार, बंध्या–पुत्र, आकाश–कुसुम, मत्स्य कन्या, एकशृंगी इत्यादि की ओर निर्देश कर सकते हैं। ऐसे तर्कों द्वारा अरस्तू नाम और उस के द्वारा इंगित पदार्थों के सम्बन्ध को हमारे अनेकत्व और बहुविध जगत् से बचा लेते हैं। फिर भी वे प्लेटो के समान यह मानते हैं कि प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ होता है क्योंकि वह जगत् के किसी न किसी पदार्थ को इंगित करता है। यदि शब्द ऐसा नहीं करता तो वह अर्थहीन हो जाता है।

III

यह संकल्पना कि भाषा का स्वरूप एक यन्त्र जैसा होता है, भाषा का प्रयोग एक औजार के रूप में किया जाता है और साथ ही यह संकल्पना कि भाषा निर्देशन का कार्य करती है, पश्चिमी दार्शनिक जगत् में निरंतर बनी रही। विटगेंस्टाइन ने इसे विरासत में पाया। वस्तुतः उनकी कृति ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसोफिक्स में इसी पुरातन एवं प्रतिष्ठित परम्परा का निर्वहन किया गया है जिस में भाषा का प्रत्येक शब्द पदार्थ का नाम होता है। शब्द का अर्थ उस के द्वारा इंगित पदार्थ होता है। कहा जा सकता है कि पदार्थ शब्द का सार होता है। यहाँ तक कि "नाम का अर्थ है पदार्थ, और पदार्थ उसका अर्थ होता है (पदार्थ 'A' का अर्थ है वही चिन्ह 'A')" (ट्रलोफि, 3.203)। यदि कोई शब्द बाह्य जगत् में किसी भी पदार्थ को इंगित, या उस का चित्रण नहीं करता तो वह अर्थहीन होता है। इस मतानुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके दावे (कहने) की शर्तों की सत्यता से निगमित होता है। सत्यता की ये शर्तें सदा के लिए निर्धारित कर दी गई हैं। भाषा वस्तुस्थिति का चित्र होती है। भाषा का प्रयोजन दर्पण की भांति वस्तुस्थिति का, बिना किसी विकृति के, चित्रण करना है। वह वस्तु स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है; वह वस्तु स्थिति का चित्र होती है। जिस प्रकार किसी व्यापक चित्र का प्रत्येक भाग वस्तुस्थिति के किसी न किसी भाग या पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार भाषा का प्रत्येक भाग, जिसे हम सर्वप्रथम तो प्रतिज्ञप्तियों में और अंततः प्रतिज्ञप्तियों को निर्मित करने वाले शब्दों में विश्लेषित करते हैं, भी जगत् के किसी न किसी हिस्से का प्रतिनिधत्व, चित्रण या निर्देश करता है। प्रत्येक शब्द को समझने के बाद ही हम पूर्ण प्रतिज्ञप्ति को, या भाषा को समझ पाते हैं। यदि हम प्रतिज्ञप्ति के किसी शब्द

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को, या उस प्रतिज्ञप्ति के शेष शब्दों से उसके सम्बन्ध को समझने में असफल होते हैं तो हम संपूर्ण प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को समझने में भी असफल हो जाते हैं। यह कुछ वैसे ही है जैसे कि हम किसी चित्र का कोई भाग किस का प्रतिनिधित्व करता है या उसका अन्य भागों से क्या सम्बन्ध है, इसको न जानने पर उस संपूर्ण चित्र के भाव या आशय को नहीं समझ पाते।

प्रत्येक अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्ति, नक्शे या खाके जैसी होती है जिसमें वास्तविक वस्तुओं और उनके आपसी सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व एक अन्य माध्यम से किया जाता है। वस्तु स्थिति का यह प्रतिनिधित्व हूबहू या सही हो सकता है, या फिर गलत या झूठा हो सकता है। वस्तु स्थिति के अनुरूप होने पर यह सत्य होता है, अन्यथा असत्य होता है। अन्य कोई विकल्प नहीं होता। विटगेंस्टाइन, ट्र लो फि 4.023 में कहते हैं :

प्रतिज्ञप्ति में यथार्थता को दो विकल्पों : हाँ या ना में सीमित रहनी चाहिए। इसके लिए उसे यथार्थता का समग्र विवरण देना चाहिए। प्रतिज्ञप्ति वस्तु स्थतियों का विवरण है। जैसे विवरण किसी वस्तु के बाह्य गुणों का वर्णन करता है, वैसे ही प्रतिज्ञप्ति आंतरिक गुणों द्वारा यथार्थता का वर्णन करती है। प्रतिज्ञप्ति को समझने का अर्थ है "उन वस्तुस्थतियों या परिस्थितियों को जानना जिनका वह प्रतिनिधित्व करती है," या फिर यह जानना कि "किन वस्तुस्थितियों में वह सत्य होती है", क्योंकि "प्रतिज्ञप्ति का अर्थ वस्तुस्थतियों के अस्तित्व या अनस्तित्व की सम्भावना से सहमति या असहमति ही है" (ट्र लो फि, 4.2)। प्रतिज्ञप्ति को समझना और इस तरह भाषा को समझना यह जानना है कि "यदि वह सत्य हो तो परिस्थति क्या होगी", जिस का अर्थ है कि उसकी सत्यापन या असत्यापन की शर्तों को जानना, दूसरे शब्दों में जब हम किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य कथन या फिर उसके असत्य कथन (दोनों एक ही बात है) की शर्तों को नहीं जानते तो हम उसको नहीं समझते। वह हमारे लिए निरर्थक होती है। यह बात संश्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों पर नहीं लागू होती, क्योंकि प्रथमतः, इस मत के अनुसार प्राथमिक (सरल) प्रतिज्ञप्तियाँ सम्भाव्य वस्तुस्थितियों का चित्र होती हैं। दूसरी बात यह है कि भाषा सकल प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का समूह है और सभी प्रतिज्ञप्तिओं के विनिर्देश के साथ–साथ उनके सत्य होने या असत्य होने की शर्तों का विवरण जानने से जगत् का वर्णन हो जाता है। तीसरी बात के अनुसार, जो न तो चित्र है, जिसका न वर्णन किया जा सकता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और और न ही उसके बारे में बात–चीत की जा सकती है वह जगत् में हो ही नहीं सकती (देखें ट्र लो फि, 2.11, 4.001, 4.26, 5, 6.53)। संश्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति को उसके भागों यानि प्राथमिक या मूल प्रतिज्ञप्तियों में विश्लिष्ट किया जाता है। सरल, प्राथमिक या मूल प्रतिज्ञप्ति के सामान संश्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति भी अपनी विषय–वस्तु को निश्चयात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती है, उस अभिव्यक्ति को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया जा सकता है (ट्र लो फि, 3.251)।" संश्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति को समझने के लिए उस भाषा के विश्लेषण के नियमों का हमें निश्चयात्मक ज्ञान होना चाहिए। यदि भाषा की किसी संश्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति का परीक्षणीय मूल, प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति में विश्लेषित नहीं किया जा सकता हो, तो वह प्रतिज्ञप्ति हमारे लिए अर्थहीन, निरर्थक और अनाप–शनाप हो जाती है। केवल पुनरुक्तियाँ और व्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ ही इस नियम का अपवाद हैं। अपनी परिभाषा के अनुसार पुनरुक्तियाँ प्रागनुभविक रूप से सत्य होती हैं (उदाहरणार्थ, वर्षा हो रही है या वर्षा नहीं हो रही)। व्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ, अपनी परिभाषा के अनुसार, प्रागनुभविक रूप से असत्य होती हैं (उदाहरणार्थ, मैं प्रसन्न हूँ और मैं प्रसन्न नहीं हूँ)। ये प्रतिज्ञप्तियाँ निरर्थक या अनाप–शनाप नहीं होतीं, किन्तु जगत् के बारे में कुछ भी बताने या जानकारी देने के अभाव में उनका कोई भी अर्थ नहीं होता। वे निरर्थक होती हैं क्योंकि वे किसी भी वस्तुस्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। विटगेंस्टाइन हमारा ध्यान तीसरे प्रकार की प्रतिज्ञप्ति की ओर खींचते हैं, वे इन तीसरी प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों को व्याकरणीय प्रतिज्ञप्तियाँ कहते हैं। ये प्रतिज्ञप्तियाँ आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं – यानि ये प्रतिज्ञप्तियाँ वस्तुस्थिति का प्रतिनिधित्व तो करती हैं, किन्तु वे अनिवार्य रूप से सत्य नहीं होतीं। इस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों का एक उदाहरण है : "प्रत्येक छड़ की लम्बाई होती है" (फि इ, 251), "शेरों का संवर्ग शेर नहीं होता किन्तु संवर्गों का संवर्ग एक संवर्ग होता है" (रि फॉ मै, पृ. 182), "आदेश अपने आपको पालन करने का आदेश देता है" (फि इ, 251), "मैं आपके दांत के दर्द का अनुभव नहीं कर सकता" (ब ब्र बु, पृ. 49), "आप ईश्वर को किसी अन्य से बात करते हुए नहीं सुन सकते, आप ईश्वर को तभी सुन सकते हैं जब वह आप से मुखातिब हो" (जै. 717)।

प्लेटो और अरस्तू के समय से ही भाषा की यह अवधारणा हमारे मन पर गहन रूप से अंकित है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि इस अवधारणा के अनुसार शब्द जगत् में किसी न किसी वस्तुस्थिति या तथ्य को इंगित करते हैं या उसका चित्रण होते हैं; वाक्य, कथन और प्रतिज्ञप्तियाँ उन तथ्यों या वस्तुस्थतियों के बारे में सत्य या असत्य कथन होते हैं। बर्टेंड रसेल को 19 अगस्त, 1919 को लिखे अपने पत्र में विटगेंस्टाइन ने यह स्पष्ट कर दिया कि ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसफिक्स का मुख्य उद्देश्य इस सिद्धांत को स्थापित करना है कि "प्रतिज्ञप्तिओं द्वारा – यानि भाषा द्वारा – किसे अभिव्यक्त किया जा सकता है (यानि सोचा जा सकता है) और किसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अपितु केवल दर्शाया ही जा सकता है; मेरी यह मान्यता है कि यही दर्शन की मूलभूत समस्या है।" संभवतः इसी कारण उन्होंने ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसफिक्स के प्राक्कथन में उसके सार की व्याख्या यह कहकर की : "जो कुछ भी कहा जा सकता है उसकी सहज एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए, और जो बात कही नहीं जा सकती वहां मौन ही श्रेयस्कर है।" उन्हें लगा कि ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसफिक्स में उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों "की सत्यता अकाट्य और निर्णायक है" और उन्होंने दर्शन की सभी समस्याओं का अंतिम निदान खोज लिया है।" इसका अर्थ था कि अब किसी के लिए भी दर्शन में कुछ करने को बचा ही नहीं था। अपनी इसी दृढ़ धारणा के कारणवश विटगेंस्टाइन ने दर्शन का और आगे अध्ययन न करने का निर्णय ले लिया और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय को छोड़कर अन्य छिटपुट कार्य करने लगे।

IV

अपने आकर ग्रन्थ फिलोसॉफिकल इंवेस्टीगेशंस में उत्तर विटगेंस्टाइन उपरोक्त मत की प्रभावशाली, आमूल–चूल, शक्तिशाली, नूतन और मौलिक मीमांसा करते हैं। इसमें वे अपने पूर्ववर्ती अवतार में निगमित भाषा के लगभग सभी पहलूओं को नकार देते हैं। ग्रन्थ के प्राक्कथन में वे यह स्वीकार करते हैं कि ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसॉफिकस में वे स्वयं भी उपरोक्त मत के शिकार रहे हैं। फिलोसॉफिकल इंवेस्टीगेशंस के प्राक्कथन में वे कहते हैं : "मैं अपनी पहली पुस्तक में लिखी बातों को गलत मानने को मजबूर हूँ।" कहा जाता है कि विटगेंस्टाइन का अपनी गलती की और ध्यान कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उनके मित्र पी. सराफा के साथ एक चर्चा में गया। इस चर्चा के दौरान विटगेंस्टाइन इस बात पर जोर दे रहे थे कि प्रतिज्ञप्ति और उसके द्वारा प्रतिपादित विषय को तर्कतः एक ही होना चाहिए और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection.

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उनके तार्किक रूप को भी समान होना चाहिए। इस बात पर सराफा ने अपनी ठोड़ी को अपनी उंगलिओं से छूते हुए पूछा : इसका तार्किक आकार क्या है, क्या यह संश्लिष्ट है या असंश्लिष्ट ?" इस प्रश्न ने विटगेंस्टाइन को अपने अब तक के संपूर्ण चिंतन पर पुनः विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। प्रश्न का चित्रण–सिद्धांत के अनुसार कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ठोड़ी पर ऊँगली रखना एक दृष्टिकोण से असंश्लिष्ट मुद्रा है, किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से इस मुद्रा में ठोड़ी, उंगली, हाथ और उनमें एक विशिष्ट सम्बन्ध है। शब्द और उसके अर्थ की निश्चितता का सिद्धांत, या एक से एक संवादिता सिद्धांत, या चित्रण सिद्धांत के निहितार्थ अभिप्राय को समझने के लिए और अपने नए सिद्धांत को प्रतिपादित करने के लिए वे "रेखा चित्र एवं परिदृश्य" बनाने लगते हैं। अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही वे कहते हैं कि ट्रैक्टेटस लोजीको फिलॉसफिक्स को पुनः पढ़ने, समझने और उसमें अभिव्यक्त विचारों को किसी अन्य व्यक्ति को समझाने के दौरान उन्हें लगा कि "मुझे अपने उन पुराने और इन नए विचारों को एक साथ प्रकाशित करना चाहिए। मुझे यह भी लगा कि मेरे नए विचारों को ठीक प्रकार से समझने कि लिए मेरे सोच–समझ के पुराने ढंग को समझना, और पुराने से नए विचारों की तुलना करना आवश्यक है" (फि इ, पृ. XVI)। वे फिलोसॉफिकल इंवेस्टीगेशंस की शुरुआत संतगस्टीन के ग्रंन्थ कंफेशनंस के एक गद्यांश से करते हैं। यह गद्यांश शब्द के पारम्परिक चित्रण सिद्धांत, या प्रतिनिधित्व सिद्धांत के सार को संक्षेप में वर्णित करता है। जैसा की मैं पहले बता चुका हूँ विटगेंस्टाइन स्वयं भी ट्रैक्टेटस में इस मत से जकड़े हुए थे। फिलसफिकल इंवेस्टिगेसन्स का यह प्रसंग इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है –

"जब मेरे अग्रज किसी वस्तु का नाम पुकार कर उस वस्तु की ओर चले तो मैंने यह देखा और देखते ही समझ गया कि उस वस्तु को उस ध्वनि से जाना जाता है जिसे उन्होंने उस वस्तु को इंगित करने के लिए उच्चारित किया है। उनकी शारीरिक गतिविधियाँ, जैसे कि चेहरे के हाव–भाव, आँखों का संचालन, शरीर के दूसरे अंगों की हरकतें और उनके स्वर के आरोह–अवरोह, से उनके प्रतिपादित आशय का पता चलता है। इन भंगिमाओं और गतिविधियों से हमारी मानसिक अवस्था, जैसे कि किसी वस्तु को खोजने की, उसके मिल जाने कि, उसे नकारने की, या फिर उससे बचे रहने की, भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जब मैंने बार–बार शब्दों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उनके उचित स्थानों पर विविध वाक्यों में प्रयुक्त होते हुए सुना तो मैं शैनैः–शैनैः सीख गया कि वे किन वस्तुओं के प्रतीक हैं, और जब मैंने अपने मुँह से वैसी ध्वनि निकालना सीख लिया तो मैं भी उनका प्रयोग अपनी इच्छा को व्यक्त करने के लिए करने लगा'' (फि इ, 1)।

भारतीय परम्परा में भी भाषा सीखने का हमें लगभग इसी प्रकार का विवरण मिलता है। विश्वनाथ रचित न्यायसिद्धांत मुक्तावली के शब्द खण्ड में निम्नलिखित श्लोक में यह मत प्रतिपादित किया गया है :–

शक्तिग्रहव्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च,
वाक्यस्यशेषाद्विवृतेवदंतिसान्निद्यतः सिद्धपदस्य वृद्धः।

प्रत्येक शब्द में द्योतन की सहज शक्ति होती है। हम शब्द के अर्थ को, उसके आशय को, उस के द्वारा द्योतित पदार्थ को, उदाहरणार्थ 'गाय' शब्द को, समझ जाते हैं जब हम अपने अग्रजों को उन प्रतिज्ञप्तिओं का श्रवण करने के साथ–साथ कुछ विशिष्ट क्रिया–कलाप करते हुए देखते हैं। अग्रजों के व्यवहार को 'वृद्ध–व्यवहार' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब कोई शिशु पहली बार गाय शब्द को, 'गाम आनय' – 'गाय लाओ 'वाक्य में सुनता है, वह 'गाय' शब्द का अर्थ नहीं जानता। किन्तु वह देखता है कि इस आदेशात्मक वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति गाय को लेकर आता है। पुनः वह एक अन्य आदेशात्मक वाक्य 'गामबधान' – 'गाय को बाँध दो' को सुनता है और यह देखता है कि इस को सुनने वाला कोई व्यक्ति 'गाय', उसी वस्तु को जिसे वह पहले आदेश को सुन कर लेकर आया था, को बाँध देता है। वह यह भी देखता है कि जब पहला व्यक्ति कुछ नहीं कहता है तो दूसरा व्यक्ति भी कुछ नहीं करता है। इस प्रेक्षण से वह जान जाता है कि 'गाय' शब्द उसी पशु का द्योतन करता है, उसी को इंगित करता है। शब्द के अर्थ को समझने की इस विधि को आवाप–उदवाय–न्याय या अन्वय–व्यतिरेक प्रणाली कहते हैं. यानि स्वीकरण–अस्वीकरण पद्धति या भेद–अभेद पद्धति। यद्यपि भारतीय परम्परा में शब्द के अर्थ को समझने के लिए व्याकरण, शब्द–कोश, आप्तवाक्य, इत्यादि जैसी अन्य पद्धतियाँ भी हैं, फिर भी संत आगस्टाइन की भांति भारतीय परम्परा में'वृद्ध–व्यवहार',अर्थ और निर्देशन को समझने की आधारभूत पद्धति हैं। अतः भारतीय दार्शनिकों का भी यह मत है कि शब्द के अर्थ का निर्धारण उसको कहने की सत्यता–शर्तों पर निर्भर करता है। शब्दों और अर्थों में सम्बन्ध के बारे में कात्यायन अष्टाध्यायी पर लिखी अपनी प्रथम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वार्तिक में कहते हैं, "शब्द के अर्थ का निर्धारण भाषा को बोलने वाले समूह में उस शब्द के प्रयोग के आधार पर किया जाता है।" ऐसे समूह को चोम्स्की भाषा के आदिम/मूल बोलने वाले कहते हैं। भर्तृहरि, पतंजलि और कात्यायन से कहीं आगे बढ़ जाते हैं। उनके अनुसार भाषा की मूल इकाई वाक्य होता है। वाक्य के स्तर से नीचे के स्तरों का पता हमें अन्वय–व्यतिरेक या अपोद्धार नामक अमूर्तविधि से चलता है। इसके साथ ही हमें यह भी कहना होगा कि भर्तृहरि के अनुसार इस विधि की सहायता से निगमित अमूर्त तत्त्वों का कोई अथवा किसी भी प्रकार का अस्तित्व नहीं होता। वे कल्पित होते हैं (वाक्य पदीय III, 14, 75–76)।

ऐसा नहीं होता कि सभी शब्द नाम होते हों। फि इन, 410 में विट्गेंस्टाइन कहते हैं – 'मैं' किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, न ही 'यहाँ' किसी स्थान काय और 'यह' तो नाम ही नहीं है। किन्तु वे नामों से सम्बंधित हैं। उनके द्वारा नामों की व्याख्या दी जाती है।" 'यह', 'वह', 'यहाँ', 'वहाँ', 'इस ओर', 'उस ओर' ऐसे सब शब्द निदर्शनात्मक नाम हैं। वे किसी पुस्तक में दी गयी अनुक्रमणिका सूची में दी गई संख्या और उसके अनुरूप अध्याय के सामान हैं। जिस प्रकार किसी एक पुस्तक में दी गयी अनुक्रमणिका सूची किसी अन्य पुस्तक पर लागू नहीं होती, और उनका अर्थ भी परिवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार इन शब्दों का अर्थ भी अपने संदर्भानुसार परिवर्तित होता रहता है। अतः "किसी भी शब्द का अर्थ तो भाषा में उसका प्रयोग है" (फि इन 43)। यदि सभी शब्द नाम हों, और सभी नाम किसी न किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व अथवा द्योतन करते हों, और वह वस्तु नाम का अर्थ होती हो तो हम भाषा से अपरिचित व्यक्ति, या किसी नौसिखिये को किसी नाम का अर्थ उस वस्तु को इंगित करके समझा सकते होते। किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तु को इंगित करके किसी शब्द का अर्थ समझाने को निदर्शनात्मक शिक्षण कहते हैं और ऐसी परिभाषा को निर्देशनात्मक परिभाषा कहते हैं। मान लीजिए कि मैं भाषा से अपरिचित व्यक्ति को 'काला' शब्द का अर्थ निदर्शनात्मक विधि से सिखाना चाहूँ, तो इसके लिए मुझे किसी काली वस्तु, यथा ब्लैक बोर्ड, काले रंग के कपड़े इत्यादि की ओर ऊँगली से इशारा करके उसे बताना होगा 'इसे काला कहते हैं'। वह इस कथन को अनेक अर्थों में ले सकता है। उदाहरणार्थ, वह सोच सकता है कि 'काला' ब्लैक बोर्ड का नाम है, 'काला' ऊपरी सतह का नाम है, ब्लैक बोर्ड के आकार को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

काला कहते हैं, पूरी दीवार को काला कहते हैं, मेरे ब्लैक बोर्ड की ओर इंगित करने को काला कहते हैं, इंगित करने की मुद्रा को 'काला' कहते हैं, इत्यादि–इत्यादि। वह तब तक 'काला' का अर्थ नहीं जान पायेगा जब तक वह यह न जानता हो कि 'काला' से मेरा अभिप्राय रंग से है, न कि अन्य पदार्थों से। किन्तु समस्या यह है कि हम उसे रंग–प्रत्यय को कैसे समझायेंगे। रंग का प्रत्यय तो हम अपनी जीवन शैली से सीखते हैं। हमें कोई व्यक्ति रंग–प्रत्यय को अलग से नहीं सीखाता, हमारी जीवन शैली रंग प्रत्यय को हमें स्वतः ही सीखा देती है। मान लीजिये, मैं कहता हूँ 'आकाश कैसा नीला है' या 'गुलाब मन मोहक पीला है' तो यदि आप भाषा से, किसी भी भाषा से, परिचित हैं तो आप स्वतः ही जान जानते हैं कि मैं रंग की बात कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ 'सागर अथाह है' तो आप संदर्भानुसार समझ जाते हैं कि मैं सागर की गहराई या विस्तार की बात कर रहा हूँ। यदि मैं कहूँ कि कपड़े का रंग 'हनी' है तो आप जान जाते हैं कि मुझे रंग के नाम का सही ज्ञान नहीं है। या कपड़े की साधारण से भिन्न छटा के कारण मैं हरे और नीले रंग में भेद नहीं कर पा रहा, और उसके स्थान पर हरे और नीले का समन्वित 'हनी' प्रत्यय का प्रयोग कर रहा हूँ। अपने जीवन की गतिविधियों और भाषा के साथ निरंतर अन्योन्यक्रिया के फलस्वरूप हमें भाषा में प्रयुक्त बल्कि भाषा द्वारा पूर्व निर्धारित, उसमें रचे–बसे, संवर्गों का ज्ञान हो जाता है। "यह तो उस ढांचे का अंग है जिस पर हमारी भाषा का क्रियान्वयन आधारित है" (फि इ, 240)। इसीलिए विटगेंस्टाइन कहते हैं कि भाषा एक जीवन–पद्धति हैं और अनेक जीवन–पद्धतियाँ हो सकती हैं। किसी भी जीवन पद्धति में प्रयुक्त भाषा के प्रयोग के बारे में प्रयोगकर्ता आपस में सहमत होते हैं। 'यह मतों की सहमति न होकर जीवन–पद्धति की सहमति है' (देखें फि इ 241)।

जीवन पद्धत्ति से भाषा के सम्बन्ध को व्याख्यायित करने के लिए विटगेंस्टाइन फि इन 86 में सारिणी से पढ़ना सीखने की प्रक्रिया के उदाहरण से करते हैं। इस प्रक्रिया का "एक अंश तो शिक्षार्थी द्वारा अपनी ऊँगली की समरेखा पर बांयें से दांयें चलाना सीखता है; मानो ऐसी समरेखाओं की एक शृंखला खींचनी हो"। उर्दू भाषा सीखते समय हमें दांयें से बांयें की तरफ यह समरेखा या उनकी शृंखला खींचनी होगी। चीनी भाषा ऊपर से नीचे की और लिखी व पढ़ी जाती है। उसको सीखने के लिए हमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्षैतिज रेखाएँ खींचने की बजाय ऊर्ध्व रेखाएँ खींचनी होंगी। वर्णमाला सीखते समय, शब्दकोष देखते समय हम इसी पद्धति का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह तो हमें किसी ने नहीं सिखाया कि शब्द का अर्थ जानने कि लिए हमें दांयें से बांयें, या बांयें से दांयें, या ऊपर से नीचे, या नीचे से ऊपर, या आढी–तिरछी दिशा में देखना है। हमें किस दिशा में देखना है, इस बारे में कोई अलग सारिणी नहीं होती, यह बात हमें अपनी जीवन शैली से ही पता चलती है। किसी वृत्ताकार, आयताकार, अथवा वर्गाकार आकृति में हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति घड़ी में सुई की दिशा में ही जाने में होती है। इसका मुख्य कारण हमारी जीवन शैली ही है। किसी अन्य जीवन शैली में इससे विरुद्ध भी हो सकता है। सड़क पर लाल बत्ती पर रुक जाना, हरी बत्ती पर चल पड़ना और नारंगी बत्ती पर रुकने या चलने की तैयारी करना भी हमारी प्रदत्त जीवन शैली का ही अंग है। किसी अन्य ग्रह पर इससे विरुद्ध आचरण की कल्पना की जा सकती है। जीवन शैली कोई हमें सिखाता नहीं है, हम उसमें पलते–बढ़ते हैं। और उस लालन–पालन के दौरान हम उसे, उसके मूल्यों को आत्मसात कर लेते हैं। जिस प्रकार एक माँ अपने नवजात शिशु का रोदन सुनकर यह जान जाती है कि कब उसके शिशु को दूध की आवश्यकता है और कब वह गोद में आना चाहता है, और कब उसने अपने डायपर गीले कर लिए हैं, कब वह केवल हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए क्रंदन कर रहा है, इत्यादि, जबकि किसी अन्य व्यक्ति को शिशु का रोदन एक सा ही लगता है।

विटगेंस्टाइन के नए मत के अनुसार शब्द का अर्थ उसके प्रयोग की सत्यता–शर्तों पर निर्भर न होकर, उसकी अभिकथनात्मक शर्तों पर निर्भर करता है। ये अभिकथनात्मक शर्तें सदा सर्वदा के लिए निर्धारित नहीं की जातीं, अपितु वे तो अनिश्चित होती हैं और उनका निर्धारण किसी प्रदत्त सन्दर्भ में उनके प्रयोग पर निर्भर करता है. शब्दों, कथनों, यहाँ तक की वाक्यों के अर्थ भी परिवर्तनशील होते हैं। किसी एक सन्दर्भ में उनका एक अर्थ होता है और किसी अन्य सन्दर्भ में दूसरा। उदाहरणार्थ, 'सैंधव'' शब्द का संदर्भानुसार अर्थ 'नमक' या 'घोड़ा' हो सकता है। कुछ शब्दों का तो एक ही वाक्य या कथन में नितांत भिन्न अर्थ होता है, उदाहरणार्थ, 'वह गया गया' कथन में पहले 'गया' का अर्थ शहर का नाम है, और दूसरा 'गया' क्रियावाची है; 'गल्ले से कमाए हुए धन को सनेगल्ले में रख दिया', इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कथन में पूर्वोक्त 'गल्ले' का अर्थ है 'अनाज' और उत्तरोक्त 'गल्ले' का अर्थ है 'कैश पेटी'। श्याम नारायण पाण्डे अपनी कविता "रणबीच चौकड़ी" में महाराणा प्रताप के घोड़े चेतक की अप्रतिम वीरता के बारे में लिखते हैं – वह गया गया फिर ठहर गया ....' इस को समझने के लिए हमें 'गया' शब्द के तीनों प्रयोगों के भिन्न अर्थों का पता होना चाहिए। इसी प्रकार नीरज के इस कथन 'आओ इंसान को इंसान बनाया जाए' इंसान शब्द के दोनों प्रयोगों का निहितार्थ पूर्णतः भिन्न है। यही बात निम्नलिखित वाक्य पर भी लागू होती हैः दो बच्चे सब्जी बेच रहे थे। एक ग्राहक ने पूछा 'पालक है ?' बच्चों ने उत्तर दिया 'पालक होता तो सब्जी नहीं बेचते'। शब्द पालक का इस से भिन्न अर्थ क्या होगा ? समाचार–पत्र में छपे इस और इस से मिलते जुलते वाक्यों पर विचार की जिये : 'चाँदी टूटी, सोना उछला'. जो लोग भाषा में प्रवीण हैं वे समझ जायेंगे कि यह किसी ऐसे समाचार का शीर्षक है जिसमें यह बताया गया है कि स्वर्ण बाजार में चाँदी का भाव गिर गया है और सोने का भाव बढ़ गया है। किन्तु किसी नवसिखिये कि लिए यह पहेली ही बनी रहेगी कि सोना कैसे उछल सकता है और चाँदी कैसे टूट सकती है। निम्नलिखित कथनों पर सरसरी नजर डालने से ही हमें पता चल जाता है कि इनमें 'कटने' शब्द के नितांत भिन्न निहितार्थ हैं : 'मैंने लखनऊ की टिकिट कटवा ली है', आपकी लखनऊ की टिकिट कट चुकी है – वह इस पत्र के साथ संलग्न है' और 'लाल कृष्ण आडवाणी की टिकिट लोक सभा क्षेत्र गाँधीनगर से कट गयी है', अथवा 'मुरली मनोहर जोशी का कानपुर से टिकिट कटा'। पहले वाक्य में कटने का अर्थ है कि मैनें टिकिट खरीद लिया है; दूसरे का अर्थ है कि आपका टिकिट खरीद लिया गया है; तीसरे का अर्थ है कि लाल कृष्ण आडवाणी अथवा मुरली मनोहर जोशी को लोक सभा के गाँधी नगर या कानपुर क्षेत्र से दल का प्रत्याशी नहीं बनाया गया है। इन शब्दों के विविध प्रयोगों को न समझने वाला व्यक्ति इन कथनों को समझ ही नहीं पायेगा। जो व्यक्ति भाषा के शब्दों के विभिन्न प्रयोगों को नहीं जानता वह कभी भी कविताओं, नग्मों, गजलों, नज्मों इत्यादि को नहीं समझ पायेगा। उसके लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का कोई अर्थ ही नहीं होगा। उदाहरणार्थ, 'वह गुस्से से लाल पीला हो गया', 'चुल्लू भर पानी में डूब मरो', 'वह शर्म से पानी–पानी हो गया', 'गंदे नाले का पानी' और 'गंगा जल' इत्यादि में भेद नहीं होगा। वे सब एक ही पदार्थ को इंगित करते हैं। उसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिए तो पानी भाव ही है। उसके लिए तो गंगा जल भी भाव है, और गंदे नाले का पानी भी भाव है, 'होली वाटर' (Holy Water) भी भाव है, और चरणामृत को भी वह भाव ही मानेगा। किन्तु हम जानते हैं की यद्यपि इन सबमें एक ही पदार्थ की बात की जा रही है पर उनके अर्थ में भेद है। 'गंगाजल', 'होली वाटर', 'चरणामृत' में भक्ति–भाव निहित है। और क्या कोई शर्म से H_2O, H_2O हो सकता है ? या चुल्लू भर पानी में डूब सकता है? या गुस्से से लाल–पीला हो सकता है ? या फिर किसी की प्रगति के बारे में सुन कर जल–भुन सकता है ? वह समझ ही नहीं पायेगा कि भाषा के अनेक प्रयोगों में आलंकारिक प्रयोग जैसा भी कुछ होता है। उसे गुलजार की निम्नलिखित कविता उटपटांग और अर्थहीन लगेगी, क्योंकि वह 'चलना' शब्द का केवल एक ही अर्थ समझता है :–

आदमी के पाँव दो हैं – पाँव–पाँव चलता है,
पंछी भी कभी–कभी तो छांव छांव चलता है।
चलने वाले कैसे देखो किस तरह चले,
पैर हैं न पंख हैं फिर भी ये हवा चले।
अपने आप चलते चलते मेजपर से गिर पड़ी,
माधो ने कहा था कल भी चल रही थी ये घड़ी।
माधो ने बताया बाबू फोन फिर से चल पढ़ा,
मैनें समझा नंगे पाँव धूप में निकल पढ़ा।
गुंडों की लड़ाई में तो हाकियाँ भी, चलती हैं,
कहते हैं कभी–कभी चालाकियाँ भी चलती हैं।
ठायें–ठायें करती सनसनाती गोलियाँ चलीं,
बिन सड़क के बस्तियों में कितनी बोलियाँ चलीं।
हिलती–जुलती भी नहीं मगर दुकान चलती है,
मुहं में है बंधी हुई पर जुबान चलती है।
गर्मी–सर्दी, आंधी–पानी एक जैसा चलता है,
अरे रात हो या दिन हो कहते हैं के पैसा चलता है।
दाएं–बाएं हर तरफ रिवाज चलते रहते हैं,
बैठे–बैठे भी तो काम–काज चलते रहते हैं।

भाषा में शब्दों के विविध प्रयोग को न जानने वाले व्यक्ति की हालत गुलजार द्वारा निम्नलिखित वृत्तांतों में ब जैसी है :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क: दिल्ली चलोगे

ब : नहीं! नहीं! कई महीने लग जाएंगे।

क: ओहो! प्लेन से जाएंगे।

ब : तो ऐसा कहो न चलते हैं का क्या मतलब है।

क: ताज में चाय पीने चलते हो ?

ब : अपनी गाड़ी है न, गाड़ी में जाते हैं।

क: गाड़ी में चलते हैं।

ब : गाड़ी में फिर चलने की गुंजाइश नहीं है, बैठ कर जाना पड़ेगा।

भर्तृहरि भी यह तर्क देते हैं कि भाषाई विश्लेषण, भाषा और उसके व्याकरण के अध्ययन के लिए तो वाक्यों को उनके अमूर्त खण्डों जैसे कि शब्दों और फिर उन शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके परप्रत्यय, उनके वाक्य–विन्यास इत्यादि में विश्लेषित कर सकते हैं; और वाक्य में उनके स्थान के बारे में चर्चा कर सकते हैं। इस प्रकार का विश्लेषण कृत्रिम होता हैं। वह एक विकल्प होता हैं। वे कहते हैं कि "संपूर्ण अर्थ जानने के लिए भाषा को भली भांति न जानने वाले ही उसे शब्दों में विश्लेषित करते हैं"। किन्तु दैनंदिन जीवन में पुरुष और स्त्रियाँ भाषा को शब्दों में विश्लेषित कर के, एक शब्द के अर्थ को दूसरे शब्द के अर्थ से जोड़कर न तो वार्तालाप करते हैं, न ही भाषा के अर्थ को जानते हैं। वार्तालाप में बोलने वाला व्यक्ति दूसरों से अपने विचारों को भाषा द्वारा प्रेषित करता हैं और सुनने वाला व्यक्ति उसकी बात को तभी समझता हैं जब संपूर्ण वाक्य उच्चारित हो जाता हैं। बोलने वाला व्यक्ति अपनी बात को एक इकाई की भांति प्रेषित कर पाता है और सुनने वाला व्यक्ति भी उसकी बात को एक इकाई के रूप में ही समझ पाता है। शब्द को उसके वाक्य से पृथक् करना असंभव है। वाक्यपदीय 1.74 में वे कहते हैं :–

पदे न वर्णा विद्यन्तेवर्णेष्ववयवा च न,
वर्णात् पदनामन्यनतम प्रविवेको न कश्चन।

प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार कोई भी वाक्य पदसमूह मात्र होने से 'वाक्य' नहीं हो जाता। शुद्ध सत्ता मात्र को व्यक्त करने वाला वाक्य 'प्रमाण' नहीं होता। प्रभाकर मीमांसकों के अन्विताभिधान सिद्धांत के अनुसार शब्द का अर्थ वाक्य के अन्य शब्दों के अर्थ से ही जाना जा सकता है यानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शब्द का संपूर्ण अर्थ वाक्य के सन्दर्भ में ही जाना जा सकता है। वाक्य के बाहर उसका कोई अर्थ नहीं होता। वाक्य के बिना शब्द की सत्ता ही नहीं होती। वाक्य के अर्थ में क्रिया का आदेश निहित होता है। वाक्य या तो किसी कार्य का निर्देश देते हैं या किसी ऐसे विषय को इंगित करते हैं जो कार्य से सम्बंधित हो। 'गौ अस्ति' वाक्य, उनके अनुसार, अभिव्यक्ति के स्तर पर केवल सत्ता का बोध नहीं कराता है। वस्तुतः प्रत्येक वाक्य का 'विधि' के साथ सम्पर्क होता ही है। उक्त वाक्य को उदाहरण के रूप में लें तो 'गौ अस्ति' का अभिप्रायार्थ' तं पश्य' के साथ है, अर्थात 'गौ है, उसे देखो' – यह मत हो जाता है। अतः सभी वाक्य निर्देशात्मक विधि–वाक्य होते हैं।

V

वह भाषा जिसमें शब्द का मात्र एक प्रयोग हो, और जिसमें उसका उद्देश्य केवल पदार्थों को इंगित करना हो, या उस शब्द के सार को दर्शाना हो निम्न स्तर की भाषा ही हो सकती है। उस भाषा का सीमित उपयोग हो सकता है। जैसे ताम्बे का प्रतीक 'Cu' होना, जोड़ का प्रतीक '+' होना, बिंदु का प्रतीक '.' होना, इत्यादि। उस भाषा का सीमित उपयोग हो सकता है। प्रतीकात्मक भाषा में प्रयुक्त शब्दों या उन के प्रतीकों का केवल एक ही अर्थ होता है। यह अर्थ परिवर्तनशील नहीं होता। शब्द और उसके प्रतीक में सम्बन्ध सुनिश्चित होता है, वह किसी भी परिस्थिति या सन्दर्भ में बदलता नहीं है। यही कारण है कि वह भाषा स्पष्ट और सुनिर्दिष्ट तो होती है, किन्तु उसमें विविधता नहीं होती। वह कृत्रिम होती है, वह जीवन के किसी एक विशिष्ट पक्ष में कारगर होती है। वही भाषा समृद्ध मानी जाती है जिसमें शब्दों के नाना प्रयोग होते हैं और नाना प्रकार के अर्थ होते हैं।

शब्दों का अर्थ, उनका महत्त्व तो बोलने के भाव से भी पता चलता है। किसी पायदान या घर, दुकान या दफ्तर के द्वार पर 'स्वागतम' शब्द लिखे होने और अपने बिछड़े मित्र को गर्म जोशी से गले मिलकर 'स्वागतम' कहने में भेद होता है। पायदान इत्यादि पर लिखे शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। अधिकाधिक वह औपचरिकता का परिचायक है। वह कुछ ऐसा ही है जैसा नियुक्ति पत्र के शुरू में "हमें आपको बताते हुए प्रसन्नता है कि ....", या किसी संवेदना प्रकट करने हेतु लिखे शासकीय पत्र में "हमें आप को सूचित करते हुए खेद है कि .....", या अपना कार्य भार सँभालते हुए आपका अधिकारी कहता है "आपको यह उत्तरदायित्व सौंपते हुए मुझे हर्ष हो रहा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है", या विदाई समारोह में यह कहना कि "हम खेद पूर्वक आपको विदा कर रहे हैं। हम सदैव आपको याद करते रहेंगे, काश ! आप सेवानिवृत्त न होते"। इन स्थितियों की तुलना हम आसानी से उन स्थतियों से कर सकते हैं जिनमें यही शब्द अपनापन दर्शाते हैं। जैसे आपके विदेश जाने पर आप की माँ का रोते–रोते यह कहना "काश तुम न जाते, यहीं रहते! "शब्दों और उनके अर्थों में सम्बन्ध के ढंग को समझने के बारे में अपने वार्तिक में कात्यायन भी कहते हैं कि शब्द–अर्थ सम्बन्ध को उनके दैनंदिन प्रयोग से ही समझा जा सकता है – सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे लोकनः। अपने न्याय सूत्र में गौतम भी यही कहते हैं। उनका कहना है कि लोक–परम्परा से ही शब्दों और वाक्यों के अर्थ को समझा जा सकता है : न– सामयिकत्वाच्छब्दार्थ–संप्रत्ययस्य (न्या.सू. 2,1,55)।

उत्तर आधुनिकतावादी सोस्यूर इसी बात का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि भाषा में शब्दों और वाक्यों के अर्थ आंतरिक नहीं होते। भाषा चिन्हों की शृंखलाओं से निर्मित एक अमूर्त प्रणाली होती है। प्रत्येक चिन्ह एक संकेतक (signifier – ध्वनि या लिखित प्रतिबिम्ब) और सार्थक (signified – अर्थ) अवयवों का युग्म होता है। संकेत के ये दोनों घटक परस्पर यादृच्छिक रूप से जुड़े होते हैं, अतः ध्वनि या लिखित प्रतिबिम्ब और उसके द्वारा इंगित प्रत्यय में कोई प्राकृतक सम्बन्ध नहीं होता, अपितु वे सम्बन्धात्मक होते हैं. प्रत्येक संकेत का अर्थ संकेत शृंखला में उससे अन्य संकेतों के अर्थों से भेद द्वारा ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, बहन शब्द में कुछ भी आंतरिक नहीं है। स्त्रीत्व के अन्य संकेतक प्रत्ययों जैसे कि 'पत्नी', 'माता' इत्यादि से भेद के कारण ही हम 'बहन' संकेतक का अर्थ जान पाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शब्दों का अपना कोई अर्थ नहीं होता या भाषा में शब्द शृंखला का भाग होने से और शृंखला के अन्य शब्दों से भेद के कारण ही वे अर्थ को प्राप्त होते हैं।

इस मत के अनुसार संकेत अचर होते हैं और उनका अर्थ भी भाषा–भाषी जनसमुदाय की परम्पराओं पर निर्भर करता है। इस मत के विपरीत देरिदा न तो संकेतक को और न ही प्रत्यय को अचर मानते हैं। उनकी मान्यता है कि संकेतक और प्रत्यय का तादात्म्य उनका अन्य संकेतकों और प्रत्ययों से भेद में निहित होता है। संकेतक और प्रत्यय निरंतर परिवर्तनशील होते हैं। अतः उनमें से कोई भी स्थायी नहीं होता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

VI

समय के साथ साथ कुछ शब्द अर्थ हीन हो जाते हैं अथवा उनके अर्थ में क्रन्तिकारी परिवर्तन आ जाता है। इसीलिए विटगेंस्टाइन कहते हैं कि कभी–कभी किसी अभिव्यक्ति को भाषा से निकालना पड़ता है और उसे परिशोधन के लिए भेजना पड़ता है – फिर उसे वापिस प्रचलन में ले लिया जाता है (क वै, पृ 44)। उदाहरणार्थ, उपेक्षा शब्द का मूल अर्थ था 'पास बैठना' किन्तु अब उसका अर्थ है 'अवहेलना', 'तिरस्कार',' 'महत्त्व न देना', 'असत्कार', 'अवज्ञा', 'अश्रवण'; 'गवेषणा' शब्द का मूल अर्थ था गोधूलि पर जब गऊएँ वापस लौटती थीं तो उन गौओं की गिनती और पहचान करना, परन्तु अब इस शब्द का अर्थ हो गया है : 'अनुसंधान', 'खोज', 'आखेटखोज', 'खोजयात्रा'। 'गोष्ठी' शब्द का मूल अर्थ था' वह स्थान जहाँ गऊएँ रखी जाती थीं', 'गोशाला', 'ढोर घर' पर अब यह शब्द 'उत्तम जन समूह', 'धर्मसभा', 'परिचर्चा', 'पानगोष्ठी', 'सत्संग', 'संगीत सभा', 'साहित्य सभा' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। 'प्रवीण' का मूल अर्थ भी वीणा बजाने में सिद्ध हस्त व्यक्ति के लिए किया जाता था किन्तु अब इसका प्रयोग किसी भी प्रकार की विधा में दक्ष होने के आशय में किया जाता है। कुशल शब्द का मूल अर्थ था वह शिष्य जो अपने हाथ–पैरों को बिना चोट पहुँचाए कुश को काटकर यज्ञ के लिए लाता था, किन्तु अब इस शब्द का प्रयोग किसी भी कार्य को योग्यतापूर्वक, दक्षतापूर्वक करने के लिए किया जाता है। ऐसे अनेक शब्द भाषा में पाए जाते हैं।

शब्दों के अर्थ का निर्धारण अब उनके द्वारा द्योतित वस्तु या चित्र से न होकर उनके प्रयोग से होता है। शब्दों या वाक्यों का अर्थ जानने के लिए शब्दों का सार क्या है यह न पूछ कर हमें पूछना चाहिए कि "कौन से अवसरों पर, किस उद्देश्य के लिए हम ऐसा कहते हैं ? किन–किन शब्दों के उच्चारण के साथ साथ हम कौन–कौन सी क्रियाएँ करते हैं ? (अभिवादन के बारे में सोचें)। किन परिस्थियों में उनका प्रयोग करते हैं और किस लिए ?" (फि इ, ६ 489)। यह मुख्यतः इसलिए है कि इस मत के अनुसार अर्थ के बारे में कुछ कहना यहाँ तक कि "अभिप्राय (भी) अपनी स्थतियों में, मानवीय प्रथाओं एवं संस्थाओं में निहित होते हैं" (फि इ, ६ 337)। इस मत का एक तार्किक निष्कर्ष यह है कि भाषा का गुण स्थिर और अप्रचलित न होकर, जैसा कि अर्थ के चित्रण सिद्धांत से निगमित होता है, सक्रिय होता है। भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोई सुनिश्चित कृत्रिम प्रदत्त वस्तु होने के बजाय मनुष्य की गतिविधियों, क्रिया कलापों का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाती है। वह धूप–छाँव जैसी होती है। शब्द अपने आप यह निर्धारित नहीं करते कि हम कब धूप कहेंगे और कब छाँव। शब्द किसी न किसी सन्दर्भ में, उनकी समग्रता में, उनकी पूर्णता (उनके संपूर्ण सन्दर्भ) में ही प्रयुक्त किये जाते हैं और वही उन पदों के अर्थ निर्धारित करते हैं। भाषा जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करती है। वह हमारे जीवन के साथ–साथ विकसित होती है। 'सही निर्णय', 'शब्दों और वाक्यों के अर्थ' शुष्क, निर्जीव, उदासीन और रूखी ध्वनियाँ या कागज पर उकेरे गए तटस्थ प्रतीक अथवा चिन्ह होने के बजाय, इस मत के अनुसार, एक हद तक, शब्दों को उनका अर्थ मानवीय सरगर्मी, उमंग, संस्कृति और पारस्परिक क्रियाओं और उनके प्रयोग के स्थान से प्राप्त होता है। शब्दों को क्रिया–कलापों का दर्जा मिल जाता है। भाषा और जीवनशैली, कपड़े में ताने–बाने की भाँति परस्पर गुंथे हुए होते हैं। जिस प्रकार केवल ताने, या केवल बाने से कपड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार जीवन शैली के ज्ञान के बिना केवल लिखित अथवा बोल से अर्थ नहीं बनता। जिस प्रकार औजार – बक्से में रखे औजारों के भिन्न एवं विविध प्रयोग हो सकते हैं, उसी प्रकार उनके संदर्भानुसार शब्दों के भी अनेक अर्थ हो सकते हैं। शब्दों, उनके अर्थों और उनके प्रयोगों में एक प्रकार का पारिवारिक सादृश्य होता है। और उनके अर्थ का निर्धारण भाषा – खेल में उनकी भूमिका से होता है। "वस्तुओं के पक्ष को समझना', 'सही निर्णय लेना सीखना' अर्थ का अभिन्न अंग बन जाता है; यही अर्थ हमारी समझ की परख की मूलभूत कसौटी होता है, और यही कसौटी बाह्य जगत् में घटने वाली घटनाओं और स्वयं बाह्य जगत् को जानने–बूझने की पूर्व मान्यता है। क्रिया–कलाप, शब्द और उनके प्रयोग के नियम और उनका सन्दर्भ एक समष्टि होते हैं, वे अभिन्न होते हैं, वे एक समग्र इकाई होते हैं। इनमें से किसी एक के न होने पर भाषा बेकार हो जाती है। वह अवकाश पर चली जाती है। वह प्रेषण के अतिरिक्त अन्य कार्य करने लगती है। उसका न तो कोई अर्थ होता है, न ही कोई आशय और उद्देश्य होता है। वह अन्य विषयों के साथ–साथ अमूर्त चिंतन–मनन का विषय हो कर रह जाती है। विश्वविद्यालय के भाषा–विज्ञान विभाग का कोई भाषण या फिर व्याकरण के किसी पक्ष को उजागर करना भाषा के ऐसे अमूर्त चिंतन का उदाहरण है। हमें निरंतर याद रखना चाहिए कि "भाषा की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उत्पत्ति चिंतन से नहीं हुई" (ओ स 475)। यही कारण है कि भाषा विभागों में भाषा के बारे में दिए गए अधिकांश भाषण नीरस और उबाऊ होते हैं। भाषा कोई निर्जीव या अमूर्त वस्तु नहीं है, वह तो सजीव और नित्य नूतन होती है। भाषा "तो जीवन से भरपूर होती है – मनुष्य के सामान नहीं, बाल्मीक (चीटियों के घर) के सामान" (क वै, पृ 71).

सतही तौर पर देखने से हमें भाषा का स्वरुप एक जैसा लगता है, क्योंकि उसके शब्दों और वाक्यों का रूप और संरचना एक जैसी होती है। उदाहरणार्थ, उसके सरल वाक्यों का आकार S (विषय) P (विधेय) है', जब कि सच्चाई यह है कि उसका प्रत्येक प्रयोग उसका नवीकरण करता है, उसको नई दिशा प्रदान करता है। कभी तो यह दिशा विकासात्मक होती है और कभी पूर्णतः क्रांतिकारी। भाषा विकासात्मक तब होती है जब उसमें प्रयुक्त शब्दों, कथनों और वाक्यों के अर्थ, उनके पहले अर्थों से मिलते–जुलते हैं। जब भाषा में प्रयुक्त शब्दों, वाक्यों, और कथनों को कोई बिलकुल नया अर्थ (प्रयोग) मिलता है तो भाषा में क्रांतिकारी परिवर्तन होता है। ओशो भी अपनी रचना गीता दर्शन में लिखते हैं "शब्द एक से हों, इससे भ्रान्ति में पड़ने की जरूरत नहीं है। एक से शब्दों के भीतर भी बड़े विभिन्न सत्य हो सकते हैं और कई बार विभिन्न शब्दों के भीतर भी एक ही सत्य हो सकता है। उससे भी भ्रान्ति में पड़ने की जरूरत नहीं है। शब्दों के खोल को हटाकर सदा सत्य को खोजना जरूरी है"। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे मुल्ला नसीरुद्दीन के उस किस्से को बयान करते हैं जिसमें मुल्ला नसीरुद्दीन कहते हैं कि एक बार एक जानवर ने उनकी जान बचाई। जब उनसे पूछा जाता है कि कब! तो वे कहते हैं कि जब बहुत भूख के कारण वे मौत के कगार पे थे। तब एक मछली ने उनकी जान बचाई। अब यहाँ 'जान बचाने' का अर्थ हमारे दैनंदिन प्रयोग से नितांत भिन्न है। साधारणतः हम 'जान बचाने' का उल्लेख मनुष्यों द्वारा अन्य प्राणियों के सन्दर्भ में ही करते हैं। इस नवीन और अनूठे प्रयोग का पता हमें उस प्रयोग के सन्दर्भ में ही चलता है।

विटगेंस्टाइन कहते हैं : किसी भाषा का अर्थ उसका प्रयोग है। क्योंकि हमारी भाषा मैं शामिल होने के बाद ही हम उसे जानते हैं (ओ स 61)।

उससे पहले तो वह मात्र एक ध्वनि, एक अक्षरों का समूह, एक चिन्ह ही होता है। जैसे– का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। महिलाऐं,...

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुरुष, पार्किंग..., से जुड़ते ही यह प्रतीक अर्थपूर्ण हो जाता है, वह एक प्रकार का संकेतक बन जाता है। इसी प्रकार 'हायहाय', 'अमर रहे', 'वापिस जाओ'. 'मुर्दाबाद', इन शब्दों का भी अपने आप में, अपने सन्दर्भ से जुड़े बिना कोई अर्थ नहीं होता। कमरे के किसी कोने में पड़े हुए इन शब्दों वाले प्लेकार्ड्स अथवा पोस्टर्स का कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु किसी विरोध प्रदर्शन में ये महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, ये जीवंत हो जाते हैं। मान लीजिये कि आपसे किसी विषय पर गंभीर वार्तालाप करते हुए मैं अचानक 'बूबूबू' का उच्चारण करूँ। ये सुनकर आप अच्चम्भित होंगे और मुझे देख कर मुझ से पूछेंगे कि यह क्या है, क्या हुआ, आपने बू, बू, बू शब्द का उच्चारण क्यों किया ? 'बू, बू, बू' का क्या अर्थ है ? यदि मैं आपको ये कहूँ कि 'बू, बू, बू' का अर्थ है 'टू, टू, टू', तो यह सुनकर आप और भी अचंभित हो जाएंगे और इसे मेरे दिमाग का खलल ही समझेंगे। यदि मैं आपको 'बू, बू, बू' की व्याख्या यह कह कर दूँ कि यह उस प्रक्रिया का नाम है जो मैं किसी शिशु को मुस्कराने या हँसाने के लिए उसके होठों को अपनी उँगलियों से हिलाते हुए करता हूँ तो यह बात आप समझ जाते हैं, और इस तरह 'बू, बू, बू' अपने प्रयोग के कारण हमारी भाषा का एक शब्द बन जाता है। विटगेंस्टाइन शब्द के किसी निश्चित अर्थ होने या उसका किसी विशिष्ट वस्तु–विषय का प्रतिनिधित्व न करने कि बात को एक झुनझुने के उदहारण से स्पष्ट करते हैं। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि झुनझुने में भरे अंदर कंकड़ हैं, पत्थर भरे हैं, हीरे भरे हैं, रेत हैं, या लोहे, अल्युमिनियम, स्टील अथवा प्लास्टिक कि दाने हैं : महत्त्वपूर्ण तो यह है कि वह आवाज करता है। उसकी आवाज सुनकर हम उस ओर आकर्षित होते हैं या शिशु रोना छोड़ देता है. उसका प्रयोग हमारा ध्यान अपनी ओर खींचता है। झुनझुने के भीतर क्या है उसका भाषा–खेल में कोई स्थान ही नहीं है। "यानी, यदि हम किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति को 'वस्तु और चित्रण' के रूप में देखते हैं तो वस्तु का कोई महत्त्व नहीं रहता और वह अप्रासंगिक हो जाती है" (फि इन, 293)। महत्त्वपूर्ण तो उसका प्रयोग होता है।

चोम्स्की भाषा और पारम्परिक, आम बोल–चाल, या नूतन प्रयोग की इसी समष्टि को भाषा का 'रचना पक्ष' कहते हैं। भाषा का ज्ञाता उसे कहते हैं जिसने कुछ नया सीखा होता है,जो भाषा के वाक्यों और शब्दों का नूतन प्रयोग कर सकता है, उन्हें एक नया आयाम दे सकता है। अज्ञेय कि निम्नलिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाएगा :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जो पुल बनाएंगे,
वे अनिवार्यतः
पीछे ही रह जाएंगे,
सेनाएँ हो जाएँगी पार,
मारे जाएँगे रावण,
जयी होंगे राम;
जो निर्माता रहे
इतिहास में
बन्दर कहलायेंगे।

भाषा में प्रवीण व्यक्ति केवल तोते की भाँति शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं करता बल्कि उस में कुछ नया जोड़ता है। वह शब्दों और उनके प्रयोग की तकनीक का अधिकारी तभी कहलाता है जब वह उन्हें विविध परिस्थितियों और सन्दर्भों में अनेक नूतन और भिन्न–भिन्न रचनात्मक कार्यों में प्रयुक्त कर सकने की क्षमता पा जाता है। वह जान जाता है कि शब्दों के प्रयोग में और उनके अर्थ में कोई एक साझा चीज नहीं होती, उनमें एक पारिवारिक सादृश्य होता है। उदाहरणार्थ, क्रिकेट, फुटबाल, चौस, लूडो, कुश्ती, कबड्डी, खो–खो, बास्केटबॉल, ताश, बैडमिंटन, पेशंस, टेनिस, हॉकी, कम्प्यूटर–गेम्स, लॉन्ग–जम्प, इत्यादि में साझा क्या है ? कुछ भी तो नहीं। कुछ में बॉल होती है, कुछ में पत्ते होते हैं, कुछ में कुछ भी नहीं होता, कुछ में दो खिलाड़ी होते हैं, कुछ में 18 खिलाड़ी होते हैं, कुछ में 22 खिलाड़ी होते हैं, कुछ में केवल एक खिलाड़ी होता है, कुछ में रेफरी होता होते हैं, कुछ में खेल के मैदान की आवश्यकता होती है और कुछ बंद कमरे में खेले जाते हैं, कुछ में शारीरिक श्रम होता है और कुछ में केवल मानसिक शक्ति का प्रयोग होता है, कुछ खेल योजना पूर्वक खेले जाते हैं, कुछ में चतुराई काम आती है, कुछ में जीत और हार के लिए भाग्य की अहम भूमि का होती है, कुछ मात्र मनोरंजन के लिए खेले जाते हैं, कुछ शारीरिक व्यायाम के लिए और कुछ मानसिक क्षमता अथवा कौशल की वृद्धि के लिए। फिर भी वे सब खेल कहलाते हैं क्योंकि उनमें एक पारिवारिक सादृश्य होता है। शब्दों वाक्यों को उनके प्रयोग के पारिवारिक सादृश्य के अनुसार प्रयुक्त करने में निपुण होना ही हमें भाषा का महारथी बनाता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का कहना है कि भाषाएँ भी "द्वेषी प्रकृति की होती हैं। वे अपना मूल्यवान खजाना उसे नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सौंपती जो अपरिचित अधकचरे बिचौलिए को अपना मध्यस्थ बनाता है। हमें व्यक्तिगत रूप में भाषाओं के पीछे लगा रहना पड़ता है और उनके साथ उनके साज की धुन पर नाचना पड़ता है"। भाषा में प्रवीणता के सिवा, किसी भी अन्य साधन से भाषा के फल नहीं चखे जा सकते। रबीन्द्रनाथ टैगोर का मानना है कि "अपनी प्रियतमा की मुस्कराहट और उसकी झलक किसी मध्यस्थ के माध्यम से नहीं पा सकते चाहे वह मध्यस्थ कितना भी कर्तव्य निष्ठ और परिश्रमी हो"।[4] भाषा पर भी यही बात लागू होती है। भाषा में प्रवीणता पाने पर ही – यानि उसके शब्दों और वाक्यों के विविध प्रयोगों को अनेक भाषा–खेलों में जानने, उन्हें जीवन–शैली समझने, उनके पारिवारिक साम्य जानने, इत्यादि से हमें भाषा के गूढ़ रहस्य का पता चलता है। विटगेंस्टाइन का भी यही तात्पर्य है जब वे कहते हैं, "हम भाषा के साथ संघर्ष में उलझे हुए हैं" (क वै, पृ 13)। हम हमेशा यह जानना चाहते हैं कि दिए हुए सन्दर्भ में शब्द, वाक्य, अथवा कथन का क्या अर्थ है। वह हम से क्या अपेक्षा रखता है, यानि क्या वह चाहता है कि हम उसका पालन किसी आदेश की तरह या किसी अनुरोध की तरह, या विस्मयकारी अभिव्यक्ति की तरह, या किसी वस्तु स्थिति के विवरण की तरह करें। उदाहरणार्थ, जब मैं अपने या किसी और के घर पहुँचकर 'पानी' कहता हूँ तो इसका अर्थ होता है 'पानी दें'। किन्तु कमरे में पानी भरा देख कर जब मैं कहता हूँ 'पानी!' तो मेरा अर्थ होता है यहाँ पानी कैसे आ गया। यदि मैं अपने नौकर से कहूँ 'कृपया पानी लाओ' तो इसका आशय आदेशात्मक 'पानी लाओ' होता है। मेरा नौकर मेरे आदेश की अवहेलना यह सोच कर नहीं कर सकता कि इन्होंने तो मुझसे निवेदन किया है। इसी प्रकार यदि मेरे दफ्तर में मुझ से मिलने आया कोई व्यक्ति 'मैं अंदर आ सकता हूँ' पूछे तो मैं कहता हूँ 'कृपया (प्लीज)'। किन्तु जब कोई मुझसे मेरे दफ्तर में आकर ऊल–जलूल प्रश्न करे और मेरे साथ अभद्र व्यवहार करे तो मैं उसे हाथ के इशारे के साथ कहता हूँ' कृपया (प्लीज)'। पहले वाले 'कृपया' कहने का तात्पर्य होता है अंदर आइए और दूसरे प्रयोग का अर्थ होता है जाइये या आदेशात्मक निकल जाइये। यद्यपि पानी या जल रासायनिक रूप से मूलतः एक ही होता है, हम गंदे नाले के पानी को पानी कहते हैं किन्तु गंगा के पानी को जल ही कहते हैं। उसी प्रकार चरणामृत भी मूलतः यानि पानी ही होता है किन्तु उसे पाने के लिए हम कितने लालायित रहते हैं। इसका कारण 'जल' 'चरणामृत' इत्यादि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में हमारी जीवनशैली, हमारे सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्य निहित होना है। किसी विदेशी को गंगा जल या चरणामृत के प्रति हमारा रुख विस्मित करने वाला होता है। हमारे रुख को समझने के लिए उसे हमारी जीवन शैली, हमारे मूल्यों एवं निष्ठाओं को समझना पड़ता है। इसीलिए विटगेंस्टाइन अपनी विशिष्ट शैली में कहते हैं, ''यदि सिंह बोल सकता तो हम उसे समझ नहीं पाते'' (फि इ II xi) क्योंकि उसकी और हमारी जीवन–पद्धति में कुछ भी साझा नहीं है।

अनेक ऐसी अभिव्यक्तियाँ होती हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता, वे किसी भी पदार्थ को इंगित नहीं करतीं, उनका केवल प्रयोग होता है। आमीन! (Amen!), अलास! (Alas!), हूराह! (Hurrah!), 'काश'!, 'हा, हा, हा!', 'आकाश–पुष्प', 'बंध्या–पुत्र', इत्यादि। विटगेंस्टाइन इसका कारण भाषा के उद्‌गम को क्रिया मानते हुए कहते हैं, "भाषा – मैं कहना चाहता हूँ – एक परिष्कार है, 'आरम्भ में तो क्रिया ही थी' {गेथे, फाउस्टभाग 1} (क वै, पृ 36)। ऐसे अनेक कथन भी होते हैं जिनको सुनकर हमें लगता है कि संभवतः कुछ अनभिव्यक्त रह गया है, उदाहरणार्थ, 'आपके गायन से प्राप्त आनंदानुभूति को मैं अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ', 'मैं अपने दुःख का ब्यान नहीं कर पा रहा हूँ' 'मैं तुम्हें कितना प्रेम करता हूँ, उसका अंदाजा खुद मुझे भी नहीं है; इसलिए उसके बारे में मैं कुछ भी कह नहीं सकता','काश मैं प्रधान मंत्री होता! इत्यादि। लेकिन यदि हम इन्हें अपनी जीवन शैली और भाषा–खेलों के सन्दर्भ में देखें तो हम जान जाते हैं कि हम पूरी तरह से अपनी मनः स्थिति न केवल अभिव्यक्त कर पाते हैं, अपितु उसे हूबहू प्रेषित भी कर पाते हैं। हमारी बात सुनकर कोई भी यह जान जाता है कि हम क्या कहना चाहते हैं। अपनी संवेदनाओं को प्रेमी कुछ न कहकर केवल छूने भर से, या एक दूसरे की आँखों में झाँक कर ही न केवल अभिव्यक्त करते हैं, अपितु उन्हें एक दूसरे को प्रेषित भी कर लेते हैं।

यह सभी बातें साहित्य पर भी हूबहू लागू होती हैं। सआदत हसन मंटो ने अपनी कहानियों पर लगे अश्लीलता के आरोपों के बचाव में अदालत में अपने द्वारा दिए गए मुचलके में साहित्य के अपनी समकालीन जीवन शैली पर आधारित होने, उसका आयना होने, उसका प्रतिबिम्ब होने की बात का समर्थन किया। सआदत हसन मंटो ने अपनी कहानी ''ठंडा गोश्त'' को अश्लील कहने वालों के विरोध में पाकिस्तान की अदालत में यह दावा किया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था कि शब्दों, उनके अर्थों और साहित्य में भी समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। उन्होंने अपनी मुचलके में कहा : "जमाने की करवटों कि साथ–साथ अदब भी करवटें बदलता रहता है। आज उसने जो करवट बदली है, उसके खिलाफ अखबारों में मजमून लिखना या जलसों में जहर उगलना बिलकुल बेकार है। वो लोग जो अददे–जदीद का, तरक्कीपसंद अदब का, फहश अदब का या जो कुछ भी यह है, खातिमा कर देना चाहते हैं तो सही रास्ता यह है कि उन हालात का खातिमा कर दिया जाए जो इस अदब की मुहर्रिक (प्रेरक) हैं।" उन्होंने साहित्य में परिवर्तन का कारण मूल रूप से जीवन शैली में परिवर्तन को मानते हुए निम्नलिखित उदाहरण दिया : "हालात बहुत मुख्तलिफ हैं और हालात का यह इख्तिलाफ ही अदब मेमन मुख्तलिफ रंग पैदा करता है। पहले फारिग–ऊलबाली (खुशहाली) थी। लोग आराम पसंद और ऐशपरस्त थे। उस जमाने में अदब में आपको बहुत सी दिमागी ऐयाशीआं नजर आ सकती हैं। वह गनूदगी (नींद का खुमार) भी आप महसूस कर सकते हैं जो उस जमाने कि अदीबों पर तारी थीं। उस जमाने में शायर अपनी असील मुर्ग की जवानमर्गी (अकाल मृत्यु) पर जोरदार नौहे (शोक–गीत) लिखता था और बहुत बड़ा शायर तस्लीम किया जाता था। आज का शायर अपनी जवानमर्गी की नौहे लिखता है। उस अहद का किस्सा नवीस जिन्नों और परियों की दास्तानें लिख कर नाम पैदा करता था। आज का अफसानानवीस उन मर्दों और औरतों की कहानियां लिखता है जो जिन्नों और परियों से कहीं ज्यादा दिलचस्प हैं। उस दौर का अदीब मुतमइन इंसान था। आज का अदीब एक गैरमुतमइन इंसान है। वह अपनी माहौल, अपनी निजाम, अपनी मुआशरत (सामाजिकता), अपनी अदब, हत्ता की अपने आपसे भी गैरमुतमइन है"।।

सी-748, विकासपुरी,
नई दिल्ली - 110018

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। देवीअथर्वशीष–10*
2. *वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्चमर्त्यम्।*
   अथेद्वाग्बुभुजे वाणुवाच पुरूत्रा वाचो न परं यच्च नाह।।
   वाक्यपदीय वृत्ति, 1 पृ. 185, के.ए. सुब्रमन्य अय्यर, पुणे–1966

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. अच. एफ. पिटकिन, विटगेंस्टाइनएंडजस्टिस, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, 1973, पृ. 173
4. द रिलिजन ऑफ एन आर्टिस्ट, इंग्लिश राइटिंग्स ऑफ रबीन्द्रनाथ टैगोर, साहित्य अकादेमी, पृ. 686

संकेताक्षर –

फि रि : लुडविग विटगेंस्टाइन, फिलोसोफिकल रिमार्क्स

रि फॉ मै : लुडविग विटगेंस्टाइन, रिमार्क्स ऑन द फॉउण्डेशन्स ऑफ मैथेमैटिक्स

जै : लुडविग विटगेंस्टाइन, जैटल

ब ब्र बु : लुडविग विटगेंस्टाइन, ब्लू एड ब्राउन बुक्स

ट्रै लो फि : लुडविग विटगेंस्टाइन, ट्रैक्टेटस लोजीको फिलॉसोफिक्स, अनुवादक के अशोक वोहरा, भारतीय ज्ञान पीठ, 2016

फि इ : लुडविग विटगेंस्टाइन, फिलोसोफिकल इंवेस्टीगेशंस, अनुवादक अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1995

ऑ स : लुडविग विटगेंस्टाइन, ऑन सर्टेंटी, अनुवादक अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1998

क वै : लुडविग विटगेंस्टाइन, कल्चर एंड वैल्यू, अनुवादक अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1998

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लोकायनवाद :
प्रोफेसर संगमलाल पाण्डेय का समाज-दर्शन

अमित कुमार मिश्र

प्रो. संगल लाल पाण्डेय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की विद्वत् परम्परा के उन लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों में हैं जिनका अकादमिक अध्यवसाय दर्शनशास्त्र के अध्येताओं हेतु आदर्श रहा है। 1953 से 1990 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की सेवा अवधि में प्रो. पाण्डेय ने अध्यापन के अतिरिक्त दर्शन शास्त्र की लगभग सभी विधाओं – भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, समाज दर्शन आदि पर छात्रोपयोगी पुस्तकों के प्रणयन के साथ ही Whither Indian Philosophy, Pre Shankara Advaita Philosophy, Depth Epistemology जैसे शोधपरक ग्रन्थों की भी रचना की है। प्रो. पाण्डेय भारतीय परम्परा व संस्कृति के प्रति कटिबद्ध थे। भारतीय दर्शन, विशेष रूप से शांकर वेदांत, उनके प्रतिबद्ध चिंतन का क्षेत्र था। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय मूल्य मीमांसा या नीतिशास्त्र एवं अर्वाचीन नीतिशास्त्र संबंधी उनका ज्ञान, तत्कालीन परिदृश्य में उपलब्ध सामाजिक, राजनैतिक विमर्श में उनकी गहरी रूचि तथा तुलनात्मक दर्शन के संदर्भ में उनका आधिपत्य एवं उत्कृष्ट तार्किक कौशल, वे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जिनके आधार पर उनके दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। इसी आधारभूमि पर प्रो. पाण्डेय ने अपने सम्पूर्ण अकादमिक जीवन के अंतर्गत कई प्रकार के मूलगामी सिद्धान्तों की स्थापना की जिनमें संदर्शन, गहन ज्ञानमीमांसा, प्रमाणाद्वैत व लोकायन प्रमुख हैं।

लोकायनवाद या लोकात्म दर्शन की अवधारणा प्रो. पाण्डेय की शांकर वेदांत, मूल्य मीमांसा, नीतिशास्त्र की गम्भीर समझ और तत्कालीन परिदृश्य में उपलब्ध सामाजिक–राजनैतिक विमर्श व उससे उत्पन्न असंतोष

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्य विकल्प अथवा विकल्पों की प्राप्ति के प्रयास का प्रतिफल है। वस्तुतः लोकायनवाद या लोकात्मवाद और कुछ नहीं अपितु वेदांत सम्मत समाज दर्शन है। वस्तुतः लोकायन से तात्पर्य विचार और सत् में इस लोक की प्राकृतिक वस्तुस्थिति से पूर्णरूपेण बुद्धिसम्मत वस्तुस्थिति और वहाँ से भली प्रकार से स्थापित (Well Settled) वस्तु स्थिति की ओर अयन या गमन है।[1] यह गमन एकरेखीय न होकर बहुसर्पिल तथा अग्रगामी तथा प्रतिगामी दोनों है। अपनी इस गति में लोक अपने वाह्य रूपों का परिवर्तन करता रहता है किन्तु यह सदैव अपने आंतरिक सत् को बनाये रखता है जो लोक के समस्त रूपों व घटकों का आधार है।

लोक के इन परिवर्तित होते रूपों व घटकों जो कि लोक के आंतरिक सत् द्वारा अभिव्यक्त होते हैं–के अध्ययन का कार्य समाजशास्त्र का है किन्तु लोक का आंतरिक सत्, इसके विविध रूपों व इसके अंतर्गत आवागमन करने वाले व्यक्तियों से इसके संबंध के अध्ययन का कार्य दर्शन शास्त्र का है। ऐसी स्थिति में समाज दार्शनिक अध्ययन का उद्देश्य लोक के आंतरिक सत् का अन्वेषण करते हुए इस आंतरिक सत् के सापेक्ष सामाजिक परिदृश्य का निरीक्षण कर उनमें विद्यमान विसंगतियों का निराकरण करते हुए सुधार करना होता है। यहाँ सुधार में किसी क्रांति की अपेक्षा नहीं होती। जो विचारक समाज दार्शनिक विवेचना के इस मर्म को नहीं समझते वे क्रांति के माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन की वकालत करने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन मात्र विसंगतियों का निराकरण और सुधारों का सन्निवेश है।

लोकायनवाद समाज दार्शनिक विवेचना के इसी स्वरूप को ग्रहण करते हुए अपनी मूलगामी सामाजिक–दार्शनिक मान्यताओं का उद्घाटन कर उपलब्ध सामाजिक परिदृश्य के निरीक्षण व परीक्षणोपरान्त लोक के रूपों व घटकों के संदर्भ में विचारित सिद्धान्तों व मान्यताओं की त्रुटियों को निराकृत करते हुए स्वमत का पोषण करता है।

इस दृष्टि से हम प्रो. पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित लोकायनवाद या लोकात्म दर्शन की विवेचना दो चरणों में कर सकते हैं –

(क) लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं का उद्घाटन।

(ख) परमत समीक्षा व स्वमत पोषण।

जहाँ तक प्रथम पक्ष अर्थात् लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं के उद्घाटन का प्रश्न है तो प्रो. पाण्डेय इस संदर्भ में सर्वप्रथम अद्वैतवाद की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्त्वमीमांसा के आधार पर लोक की तत्त्वमीमांसीय स्थिति का निर्धारण करते हैं। उनके अनुसार लोकायनवाद का आधार अध्यात्मवाद है जिसकी पराकाष्ठा अद्वैतवाद में हुई है। अद्वैतवाद एक मात्र चैतन्य ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है। लोक, समाज, व्यक्ति सबमें उसकी सत्ता विद्यमान है। सभी उस परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। अविद्या या माया के कारण यह विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार मूल रूप से सब कुछ ब्रह्म ही है। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि जगत् को तो अद्वैतवाद में मिथ्या स्वीकार किया गया है, ऐसी स्थिति में अद्वैतवाद के आधार पर लोकायन संबंधी विमर्श का प्रारम्भ कैसे होगा ? प्रो. पाण्डेय के अनुसार जगत् मिथ्यात्व से लोकायनवाद की अवधारणा को अद्वैतवादी आधार प्रदान करने में कोई हानि नहीं है। जगत् को मिथ्या कहने का तात्पर्य जगत् को सत्–असत् से विलक्षण सिद्ध करना है। अद्वैतवाद जगत् को असत् नहीं मानता। जगत् की व्यावहारिक सत्ता है और इस रूप में अद्वैतवादी आधार पर लोकायनवादी विमर्श संभव है। उल्लेखनीय है कि अद्वैतवाद में छह पदार्थ अनादि माने गये हैं – विशुद्ध चित, अविद्या, चित और अविद्या का संबंध, ईश्वर, जीव, ईश्वर–जीव का भेद। इनको अनादि मानने से अद्वैतवाद जगत् व लोकव्यवहार की युक्ति युक्त व्याख्या कर देता है। अद्वैतवाद लोक को ऐसा व्यावहारिक वस्तु सत् मानता है जो पारमार्थिक सत् में निहित है। व्यवहार की कल्पना के द्वारा ही परमार्थ अपने को अभिव्यक्त करता है।[2] इस प्रकार यद्यपि एक मात्र सत्ता विशुद्ध चित्त की है तथापि अन्य पाँच पदार्थों के कारण वह सत्ता अपने को लोक में प्रकाशित करती है। इस रूप में आत्मा या ब्रह्म या ईश्वर ही लोक रचना या लोक प्रवृत्ति का कारण है।

चर्चा के इस क्रम में प्रो. पाण्डेय द्वारा लोक व समाज का किया गया भेद भी विचारणीय है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में 'लोक' व 'समाज' पर्यायवाची शब्द नहीं अपितु भिन्न हैं। लोक समाज का प्राकृतिक व परम्परागत पक्ष है तो वहीं समाज मानव निर्मित पक्ष है। लोक समाज की तुलना में अधिक मौलिक है। समाज निर्मित व नष्ट होते हैं और उनके निर्मित और नष्ट होने के कुछ विशिष्ट उद्देश्य होते हैं। समाज एक दूसरे के विपरीत भी होते हैं। समाज लोक में निर्मित होते हैं और इसी में नष्ट हो जाते हैं।[3] समाज लोक में ही है। लोक न तो निर्मित होता है न नष्ट। लोक सभी समाजों का जनक है और इस अर्थ में लोक समाज हेतु उत्तरदायी कार्यों को प्राप्त कराने हेतु सक्रिय रहता है। लोक समाज का आधारभूत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तथ्यात्मक रूप है जो हमें प्रदत्त है। यह निराकार है किन्तु निराकार होते हुए भी यह समाज के सभी रूपों को धारण करता है। बहुत सी शक्तियाँ लोक पर क्रिया–प्रतिक्रिया करती हैं। इन शक्तियों में कुछ दृष्ट या आनुभविक, कुछ अदृष्ट या अनानुभविक हैं। कुछ शक्तियाँ प्रवृत्ति का परिणाम हैं और कुछ निवृत्ति का। प्रो. पाण्डेय के अनुसार जो दार्शनिक इन शक्तियों के मात्र दृष्ट, आनुभविक या प्रवृत्ति पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं वे समाज के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते। 'लोक' शब्द के साथ जीव, मृत्यु, मनुष्य, कर्म आदि शब्दों के संयोजन से जीव+लोक अर्थात् जीवलोक की तरह मृत्युलोक, कर्मलोक आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों में से प्रो. पाण्डेय कर्मलोक को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[4] उनके अनुसार यह लोक कर्म से बंधा है। कर्म से ही समाज को गति मिलती है। हमारे कर्म कैसे होने चाहिए, इस हेतु प्रो. पाण्डेय मूल्यों को परिगणित करते हुए लौकिक व धर्मयुक्त लौकिक मूल्य की चर्चा करते हैं जिसमें लौकिक मूल्य के अंतर्गत इष्टा (Works for Personal Pity), पूर्ता (Works for the benefits of the others) और दत्त (Charity) जबकि धर्मयुक्त लौकिक मूल्यों के अंतर्गत यज्ञ, तप (Penances), दान (Charity) की गणना करते हैं।[5] इसके अतिरिक्त वैराग्य, पुरुषार्थ और विशेष रूप से लोक संग्रह प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में परम मूल्य हैं। प्रो. पाण्डेय के अनुसार इन्हीं मूल्यों के आधार पर समाज में लोकरीति, लोकेच्छा, लोकबुद्धि का निर्माण होता है।

वस्तुतः लोक अपने आप में मूल्यों का निकाय है जो मानव समाज को निर्देशित करते हुए उसकी आधारभूमि का निर्माण करता है। यहाँ पर एक प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि हम इन मूल्यों को क्यों मानें? इसका उत्तर देते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि हम नैतिक मूल्यों को निर्नैतिक तथ्यों में घटित नहीं कर सकते।[6] उन्हें मानने का कोई तथ्यात्मक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। हमें उन्हें मानना होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर प्रो. पाण्डेय अद्वैतवाद के आधार पर लोक की तत्त्वमीमांसीय स्थिति का निर्धारण करते हुए समाज के उसका भेद स्थापित कर लोक को ईश्वर के लगभग समकक्ष खड़ा कर देते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर मात्र लोक रचना या लोक प्रवृत्ति का कारण होने से पूर्व रूप है और लोक ईश्वर रचित एवं समाज की प्राकृतिक व परम्परागत स्थिति होने के कारण ईश्वर द्वारा प्रदान की गई सभी सर्वोत्कृष्ट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशिष्टताओं से युक्त है। दूसरी ओर प्रो. पाण्डेय द्वारा समानांतर रूप से लोक को कर्मलोक के रूप में व्याख्यायित करते हुए कर्मों के अनुशासन हेतु मूल्यों का परिगणन करना लोक को मूल्यों के निकाय के रूप में स्थापित करने का प्रयास लगता है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल्यों के निकाय के रूप में लोक ईश्वर के लगभग समकक्ष तत्त्वमीमांसीय स्थिति रखता है। ऐसी स्थिति में लोक की स्थापना एक आदर्श के रूप में हो जाती है। ऐसा आदर्श जिसमें मूल्य, पूर्ण और संतृप्त अवस्था में रहते हैं। लोक में विद्यमान मूल्यों की यह संतृप्त आदर्श स्थिति ही लोकात्मा है। व्यक्ति और समाज दोनों परस्पर इसकी प्राप्ति हेतु प्रयासरत हैं तो वहीं लोकात्मा भी उनके उत्तरदायी कार्यों को प्राप्त कराने हेतु सक्रिय रहती है।

वस्तुतः यह लोकात्मा आंतरिक अनुभूति का विषय है किन्तु जब हम इसे आनुभविक स्तर पर प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तब हमसे त्रुटि हो जाती है।[7]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर प्रो. पाण्डेय के लोकायनवाद के प्रथम पक्ष अर्थात् लोकायनवाद की मूलगामी मान्यताओं को समझा जा सकता है।

जहाँ तक दूसरे पक्ष अर्थात् परमत समीक्षा व स्वमत पोषण का प्रश्न है तो इसका प्रारम्भ वहीं से किया जा सकता है जब प्रो. पाण्डेय यह कहते हैं कि जब हम लोकात्मा रूपी आंतरिक अनुभूति के विषय को आनुभविक स्तर पर प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तब हमसे त्रुटि होती है। प्रो. पाण्डेय के अनुसार समाज की प्राथमिक अवस्था से लेकर अद्यतन समाज संचालन के संदर्भ में सिद्धांतों की स्थापना को लेकर जो भी प्रयास हुए हैं उनमें अधिकांशतः उक्त त्रुटि के ही परिणाम हैं। उक्त त्रुटियों का निदर्शन करने हेतु प्रो. पाण्डेय विभिन्न सामाजिक–राजनैतिक विचारधाराओं का मूल्याँकन करते हुए न केवल उनकी अपर्याप्तता सिद्ध करते हैं बल्कि साथ ही साथ लोकायनवादी मान्यताओं का भी वर्णन करते हैं।

पूँजीवादी व साम्यवाद के संदर्भ में चर्चा करते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि पूँजीवादी और साम्यवाद दोनों ही अर्थ को परम पुरुषार्थ मानने के कारण अपर्याप्त हैं। पूँजीवाद सिद्धान्ततः व्यक्ति को अर्थोपार्जन की पूर्ण स्वतंत्रता देने का पक्षधर है किन्तु व्यवहारतः बड़ी व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को बढ़ावा देता है जो शक्ति समृद्धि में राज्य की समानता का स्तर प्राप्त करते हैं। परिणामस्वरूप समाज में आर्थिक विषमता पैदा होती है, क्योंकि अधिक धन कुछ ही व्यक्तियों के अधिकार में आ जाता है और शेष बहुसंख्यक समाज भयंकर आर्थिक संकट में रहता है।[8]

वहीं साम्यवाद व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता प्रदान न करते हुए राज्य को सभी आर्थिक अधिकार प्रदान करता है। इस कारण जिन व्यक्तियों का राज्य पर सर्वाधिकार होता है वे राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति का प्रयोग अपने लिए करते हैं। साम्यवादी शासन में व्यक्तियों को बुनियादी आवश्यकताओं के लिए मोहताज होना पड़ता है। सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक स्थिति से साम्यवाद कोई लाभ नहीं उठाता। वह अपने राज्य में इतना आर्थिक नियंत्रण रखता है कि वाह्य विश्व से उसका कोई आर्थिक संबंध नहीं रह जाता। वस्तुतः साम्यवादी समाज आर्थिक दृष्टि से बंद समाज है।

भारतीय साम्यवाद पर चर्चा करते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि भारतीय साम्यवादियों ने अपने मत को लोकायत दर्शन के आधार पर स्थापित किया। इस रूप में उन्होंने भौतिकतावाद का समर्थन तो किया और साथ ही साथ की उत्पत्ति को भौतिक पदार्थों से माना जबकि चेतना की उत्पत्ति भौतिक पदार्थों से नहीं दिखाई जा सकती; क्योंकि उत्पत्ति कार्य–कारण भाव पर निर्भर करती है और जिसकी अवधारणा में चैतन्य की पूर्व भूमिका है। अतः भौतिकतावाद में चैतन्य की उत्पत्ति दिखाने में चक्रक दोष होगा। आचार्य शंकर के अनुसार विषय अपने को विषयीकृत नहीं कर सकता, क्योंकि अपने ऊपर अपने द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। विषय को विषयीकृत करने वाला चैतन्य तत्त्व है। इस कारण वह देह से ही नहीं अपितु समस्त विषयों से भिन्न है। यही देही या शारीरक है। देह के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता जो अजर अमर है। इस प्रकार भौतिकतावाद असत्य सिद्धान्त है।[9]

इस प्रकार लोकायनवाद पूँजीवाद, साम्यवाद, लोकायत दर्शन और भौतिकतावाद का निषेध करते हुए अध्यात्मवाद आधारित लोकात्म दर्शन की आधारशिला रखते हैं। प्रो. पाण्डेय के अनुसार लोकायनवाद लोक को आर्थिक नियंत्रण का अधिकार देता है न कि राज्य या बड़ी कम्पनियों को। वह प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता प्रदान करता है किन्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथासंभव आर्थिक समानता हेतु लोक–संग्रह, लोक–चेतना, लोक–रीति के द्वारा समाज के किसी भी वर्ग में पूँजी के संकेन्द्रण को रोकता है। वह ऐसे राज्य को स्थापित करता है जो न्यायोचित कराधान द्वारा राष्ट्रीय पूँजी के समान वितरण की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार वह लोक को इतना जागरूक बनाता है कि वह स्वेच्छा से यज्ञ, दान, इष्टापूर्ति व त्याग द्वारा अपनी पूँजी को लोक में खर्च करता है।

लोकायनवाद हॉब्स तथा पॉपर जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित पद्धतिशास्त्रीय व्यक्तिवाद का भी खंडन करता है। पद्धतिशास्त्रीय व्यक्तिवाद के अनुसार – समाज व्यक्तियों का समूह है। व्यक्तियों से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं, जबकि लोकायनवाद व्यक्तियों से भिन्न समाज के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है। व्यक्तिवाद के अनुसार सामाजिक संस्थाओं का प्रयोजन व्यक्तियों के हितों को बढ़ाना है। व्यक्तियों से पृथक् समाज का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। परन्तु लोकायनवाद के अनुसार व्यक्ति और समाज दोनों के पृथक् प्रयोजन हैं। दोनों में एक प्रकार का अन्योन्याश्रय भी है। व्यक्तिवाद के अनुसार प्रत्येक सामाजिक कर्म का अंतर्भाव उस समाज के व्यक्ति के कर्मों में किया जा सकता है किन्तु लोकायनवाद के अनुसार यह संभव नहीं। बहुत से ऐसे सामाजिक तथ्य हैं जो व्यक्तियों के कार्य से नियंत्रित नहीं होते। उदाहरण के लिए मुदास्फीति, भाषायी व्यवहार आदि। व्यक्तिवाद के अनुसार समाज एवं सामाजिक संस्थाओं एवं रीतियों का वर्णन जिन विधेयों द्वारा किया जाता है वास्तव में वे व्यक्तियों का वर्णन करने वाले विधेय हैं, किन्तु लोकायनवाद के अनुसार यह कहना गलत है कि संस्थागत व सामाजिक कार्यों का विवरण उन विधेयों द्वारा संभव है जो व्यक्ति के कार्यों के विधेय हैं। सत्य यह है कि व्यक्तियों के कार्य बिना सामाजिक संस्था को माने अवर्णनीय हैं, वैसे ही अवर्णनीय जैसे संस्थागत या सामाजिक कार्य बिना व्यक्तियों को माने। समाज व व्यक्ति दोनों के कार्यों में अन्योन्याश्रयत्व है। सेना का वर्णन बिना सैनिकों के और सैनिकों का वर्णन बिना सेना के नहीं हो सकता।[10]

लोकायनवाद समाजवाद व मानववादी विचार धाराओं पर भी अपनी आलोचनात्मक दृष्टि रखता है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में समाजवाद का सबसे अधिक प्रचार कार्ल मार्क्स व उनके अनुयायियों ने किया। इस सिद्धान्त के निम्नलिखित बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(क) समाज–परिवर्तन का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद है जो हीगेल के द्वन्द्वन्याय पर आधारित है। इसके अनुसार निषेध एवं निषेध का निषेध सामाजिक परिवर्तन के कारण हैं। आदिम साम्यवाद का निषेध दासता है जिसका पुनः निषेध करके सामंतवाद स्थापित होता है। सामंतवाद का निषेध पूंजीवाद है जिसका निषेध करके समाजवाद स्थापित होता है। अंत में समाजवाद का निषेध करके वैज्ञानिक साम्यवाद प्रकट होता है जिसमें राज्य संस्था या अन्य सामाजिक संस्थाओं का उन्मूलन हो जाता है।

(ख) साम्यवाद लोकतन्त्र का विकल्प है। वह सभी मनुष्यों को समान अधिकार नहीं देता अपितु उन्हें विकास का समान अवसर देता है। इस हेतु वह व्यक्तिगत सम्पत्ति, अभिजात्य वर्ग के विशेषाधिकारों का उन्मूलन करता है। वह राष्ट्रीयकरण द्वारा अर्थोपार्जन के सभी साधनों को राज्य में निहित करता है और सभी नागरिकों के भोजन, चिकित्सा, शिक्षा और रोजी की समान रूप से सरकारी व्यवस्था करता है।

(ग) साम्यवाद राज्य के अतिरिक्त परिवार, सभ्य समाज, जाति, राष्ट्रीयता, धर्म आदि जितनी संस्थाएँ हैं उनका भी उन्मूलन करता है। इस प्रक्रिया में वह राज्य को सर्वोच्च सैन्य संगठन के रूप में स्थापित कर सेना के बल पर शासन करता है।

(घ) ऐतिहासिकता या कालचक्र सामाजिक परिवर्तन का कारण है जो ऐतिहासिक तथ्य है। यह एक युक्ति युक्त विचार है, जो विचार युक्ति युक्त है वही ऐतिहासिक तथ्य होता है। समाजवाद युक्ति युक्त विचार है, अतः ऐतिहासिक तथ्य है।

लोकायनवाद के आलोक में उपर्युक्त बिन्दुओं की आलोचना करते हुए कहा जा सकता है कि ऐतिहासिकता सामाजिक परिवर्तन का कारण नहीं हो सकती क्योंकि सामाजिक परिवर्तन सप्रयोजन होता है और ऐतिहासिकता निष्प्रयोजन व अंध होती है। अतः यह कहना कि जो ऐतिहासिक तथ्य है वह युक्ति युक्त है, उचित नहीं। इतिहास तथ्यों की व्याख्या है न कि तथ्यों का कारण। अतः समाजवाद इतिहास सिद्ध है यह कहना गलत है।

पुनः समाजवाद वैज्ञानिक है यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि विज्ञान प्राक्कल्पना व उसके सत्यापन द्वारा विकसित होता है और वह किसी सार्वभौम व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समाजवाद का आधार निषेध कहा जाता है किन्तु यह आधार अमूर्त कल्पना है क्योंकि किसी भी निषेध प्रक्रिया के पूर्व या साहचर्य में कोई स्वीकारात्मक तथ्य रहना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में हीगल व मार्क्स दोनों का द्वन्द्वन्याय धराशायी हो जाता है।

यह कहना कि आदिम साम्यवाद, दासता, सामंतवाद और पूँजीवाद समाजवाद द्वारा सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं–गलत है, क्योंकि इन व्यवस्थाओं के आधार मानव मनोविज्ञान व समाज विज्ञान में बीज रूप में रहते हैं। रूस में सामंतवाद के पतन के बाद पूँजीवाद की वापसी दृष्ट है। भारत में भी समाजवाद सामंतवाद व पूँजीवाद से जुड़ गया है। भारत में समाजवाद एक ओर तो उच्च जातियों और वंशों के विशेषाधिकार को समाप्त कर रहा है वहीं दूसरी ओर निम्न जातियों को विशेष अवसर के नाम पर विशेषाधिकार दे रहा है। जहाँ समाजवाद का लक्ष्य समान अवसर व समान वितरण है वहीं भारतीय समाजवाद विशेष अवसर व विशेष वितरण द्वारा सामंतवाद व पूँजीवाद को उत्पन्न कर रहा है।

वस्तुतः समाजवाद कोई तथ्य नहीं अपितु मूल्य या आदर्श है। यह कोई संक्रान्तिकालीन व्यवस्था नहीं क्योंकि यदि यह तथ्य के रूप में स्थापित होगा तो यह मूल्य न रहेगा और अन्य तथ्यों की भाँति परिवर्तनीय होगा। समत्व या समता, समान अवसर, समान अधिकार के आदर्शों का समाज में जितना व्यापक प्रयोग होगा, समाजवाद उतना ही चरितार्थ होगा। समाजवाद लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता। यह लोकतंत्र का केवल आदर्श है।"

वहीं मानववाद के संदर्भ में प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि समाजवादी व अस्तित्ववादी मानववाद अनिवार्यतः निरीश्वरवादी होते हुए भी ईश्वरवादी मानववाद का विरोधी नहीं है अपितु उसको सुदृढ़ करने वाला है। सभी मनुष्यों की अंतरात्मा में ईश्वर निहित है। ईश्वर ही उन्हें असत् से सत् की ओर अधर्म से धर्म की ओर, अन्याय से न्याय की ओर ले जाता है। अतएव मनुष्य जिन सामाजिक राजनैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है उसमें वह ईश्वर का दर्शन करता है। इस दृष्टि से मानववाद सर्वेश्वरवाद के अनुकूल है। वास्तव में ईश्वर समस्त प्रजा का मूल सत् है जिसमें वह प्रतिष्ठित है। लोक रचना व लोक प्रवृत्ति के कारण वह सत् है। इसी को ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा कहा जाता है। अतएव सम्पूर्ण मानवता और एक–एक मनुष्य इसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मा से नियंत्रित है। लोकात्मा के रूप में ईश्वर सर्वव्यापी है। अतः तत्त्व, कर्म, प्रयोजन और जीवन की दृष्टियों से लोकात्मा मानव लोक का सूत्रधार एवं नियंत्रक है। मनुष्य की स्वतंत्रता का तात्पर्य है कि उसकी चेतना एक निरपेक्ष सच्चिदानंद ब्रह्म से अभिन्न है और उसी पर समस्त प्रजा तथा लोक प्रतिष्ठित है।[12]

उपर्युक्त विचारधाराओं पर दृष्टिपात करने के अतिरिक्त प्रो. पाण्डेय ने लोकयनवाद के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक व राजनैतिक प्रत्ययों व परिस्थितियों की व्याख्या का भी प्रयास किया है जिसके अंतर्गत सामाजिक व राजनैतिक मूल्य, राष्ट्र–राज्य, प्राधिकार व शक्ति, विधि व अधिकार, राजनैतिक ऋण, आतंकवाद, युद्ध व शांति, न्याय, धर्मनिरपेक्षता आदि प्रमुख हैं।

लोकयनवाद के अंतर्गत सामाजिक राजनैतिक मूल्यों की चर्चा करते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि लोकयनवाद के अनुसार लोकसंग्रह सामाजिक मूल्य है और वर्ग–भेद सामाजिक अवमूल्य है। लोकयनवाद सामाजिक संस्थाओं की प्रगति व रक्षा को परममूल्य मानता है। कुल, ग्राम, जनपद, राष्ट्र–राज्य, भाषा, शिक्षा आदि मूल्यवान संस्थाएँ हैं जिससे मानव जीवन समृद्ध होता है। माता, पिता, आचार्य और अतिथि व्यक्ति नहीं बल्कि सामाजिक मूल्यों के प्रतीक हैं। जो राजा शुभेच्छा का प्रतीक है वो देवता अन्यथा राक्षस है। अतः सामाजिक संस्था के अध्यक्षों को सामाजिक शुभेच्छा का प्रतीक होने का प्रयास करना चाहिए। लोकयनवाद में देश प्रेम परममूल्य है। यह भगवत् भक्ति से भी श्रेष्ठ है। राजनैतिक मूल्यों के संदर्भ में लोकयनवाद के अनुसार– राजनैतिक सत्ता या अस्मिता का अनुभव किसी न किसी रूप में प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। लोकयनवाद लोकतंत्र का समर्थक है। ऐसा लोकतंत्र जिसमें ऐसे राजनैतिक दल हों जो देश प्रेम व लोकतंत्र के लिए जनता में राजनैतिक शक्ति का वितरण करें। राजनैतिक शक्ति किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित न हो। राजनैतिक शक्ति जितनी विकेन्द्रीकृत होगी सामान्य जनता को उसका उतना अधिक लाभ मिलेगा।[13]

राष्ट्र, राज्य तथा सरकार के संदर्भ में लोकयनवाद की मान्यताओं का पोषण करते हुए प्रो. पाण्डेय का कहना है कि समाज व्यापक व राज्य व्याप्त है। आदर्श स्थिति तो यह होती कि सम्पूर्ण मानवता हेतु एक राज्य होता किन्तु मानवता राष्ट्रों में बँटी है। प्रत्येक राष्ट्र पृथक् राज्य की अपेक्षा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रखता है जिसमें वह अपनी अस्मिता को बनाये रखे। इसी अवधारणा पर राष्ट्र–राज्य की अवधारणा का विकास हुआ है। राष्ट्र के भिन्न राज्य निश्चित भू–भाग, जनसंख्या व संप्रभु शासक से युक्त है किन्तु राष्ट्र–राज्य के अंतर्गत इसमें भाषा, संस्कृति, इतिहास संयुक्त हो गये। पहले राज्य शक्तिशाली राजाओं के पराक्रम व सैन्य शक्ति पर निर्भर थे किन्तु 19वीं शताब्दी के पश्चात् राष्ट्र–राज्य के अभेद की अवधारणा के परिणामस्वरूप राज्य का प्रयोजन समाज की शांतिपूर्ण व्यवस्था की रक्षा करना हो गया। व्यक्ति के शासन का स्थान विधि के शासन ने ले लिया। लोकतंत्र का विकास हुआ। लोक सम्प्रभुता आस्तित्व में आयी। शक्ति के विकेन्द्रीकरण को मान्यता मिली। भारत में इसके प्रमाण पंचायती राज्य व्यवस्था के रूप में देखे जा सकते हैं किन्तु इटली और जर्मनी जैसे देशों में राष्ट्र–राज्य का संयोग सैन्य शक्ति व समाजवाद से हुआ जिससे फासीवाद व नाजीवाद विकसित हुए। इन्होंने सैन्य शक्ति के बल पर अपनी विचारधारा को थोपने का प्रयास किया। इससे लोक शक्ति का ह्रास हुआ। इसी कारण कालांतर में फासीवाद व नाजीवाद का पतन हुआ। लोकयनवाद सैन्य शक्ति के बल पर शासन का विरोध करता है। इसके अनुसार सेना का कार्य शत्रु से रक्षा करना है। दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण लूटपाट या बर्बरता है। लोकयनवाद इसका विरोध करता है। वह राष्ट्र–राज्यों के सहअस्तित्व का पक्षधर है। इस हेतु लोकयनवाद लोकतंत्र को उपयुक्त शासन प्रणाली मानता है किन्तु उसके अनुसार यदि कोई शासन प्रणाली इस परिपथ (लोकयनवादी परिपथ) पर कार्य करती है तो लोकयनवाद उसे भी स्वीकारने का समर्थन करता है।[14]

इन विशिष्टताओं से युक्त राष्ट्र–राज्य में संतो व विद्वानों के सम्मान को लोकयनवाद आवश्यक मानता है। संत तथा विद्वान् सत्वगुण से युक्त होते हैं। इनके द्वारा समय–समय पर की गई आलोचना, टिप्पणी व सुझाव राज्य व समाज को दिशा प्रदान करते हैं। इस प्रकार लोकयनवाद में स्वतंत्र व निष्पक्ष विद्वानों व संतों के समाज की व्यवस्था है। जहाँ ये दोनों समाज में जीवंत व सबल हैं वहाँ कभी भी तानाशाही स्थापित नहीं हो सकती।[15]

संप्रभुता के संदर्भ में विचार करते हुए लोकयनवाद लोकसंप्रभुता को स्वीकार करता है। लोकायनवाद की दृष्टि में अच्छी सरकार वह है जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्यूनतम शासन करे, जहाँ सत्ता का स्वरूप विकेन्द्रीकृत हो तथा निर्वाचन के द्वारा ही सत्ता का परिवर्तन हो।

लोकयनवाद की चर्चा के क्रम में प्रो. पाण्डेय शक्ति व प्राधिकार पर भी चर्चा करते हैं।[16] उनके अनुसार अधिकार सम्पन्नता को प्राधिकार कहा जाता है। जो मनुष्य अधिकार सम्पन्न होते हैं उनका अधिकार उन मनुष्यों पर होता है जो उनके प्रति कर्तव्यवान होते हैं। इस अधिकार सम्पन्नता या प्राधिकार का स्रोत कभी विधि कभी परम्परा या कभी स्वयं प्राधिकारी के चमत्कारी व्यक्तित्व होते हैं। विधिक प्राधिकार के प्रति मनुष्यों को अपने कर्तव्य अनिवार्यतः करने होते हैं किंतु अविधिक प्राधिकार के प्रति कर्तव्य पालन का आधार इन प्राधिकारों में जनता का विश्वास है। इस विश्वास के कारण को स्पष्ट करते हुए प्रो. पाण्डेय का कहना है कि आत्म साक्षात्कार के लिए आत्मा स्वयं को नैतिक व्यवस्था और उससे प्रादुर्भूत प्राधिकारों में अभिव्यक्त करती है। इस आत्मानुशासन को जो मनुष्य स्वीकार करते हैं वे सदाचारी कहे जाते हैं। सत्य का विमर्श सदाचार और सदाचार की परंपरा वे कारण हैं जो प्राधिकारों में जनता के विश्वास को उत्पन्न करते हैं। इस विश्वास में सत्यता का प्रमाण यह है कि जो मनुष्य इन प्राधिकारों में विश्वास करके कर्म करते हैं उन्हें अपने अभीष्ट की सिद्धि होती है। साथ ही इन प्राधिकारों को स्वीकार करने से सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है।

जहाँ तक राजनैतिक शक्ति का प्रश्न है, प्रो. पाण्डेय प्राधिकार व शक्ति की दो स्थितियों को मुख्य रूप से स्वीकार करते हैं–प्राधिकार सहित शक्ति व प्राधिकार रहित शक्ति। इनमें प्राधिकार रहित शक्ति गैर कानूनी शक्ति है। इसके दो रूप हैं–एक वह जो अनीति पर निर्भर है और जिसका आधार बल प्रयोग व जबरदस्ती है तो वहीं दूसरी नीति पर आधारित है जिसमें जनता का विश्वास रहता है। यह स्थिति विद्वानों, संतो, समाज सुधारकों द्वारा किये गये ऐसे प्रयासों में देखी जा सकती है जब वे लोकहित के लिए जनता को सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए प्रेरित करते हैं।

वस्तुतः राजनैतिक शक्ति समाज परिवर्तन का अन्यतम साधन है। इसका प्रयोग सरकार या मनुष्य दोनों कर सकते हैं। यदि सरकार अच्छी है तो वह स्वयं लोक कल्याण के निमित्त राज्य के विधि–विधान में समय–समय पर परिवर्तन करती है। वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतंत्रता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यदि व्यक्ति के चिंतन में और सरकार के विधि–विधान में संघर्ष होता है तो व्यक्ति अपने अधिकार के लिए जन समर्थन प्राप्त करता है। जितना उसको जन समर्थन प्राप्त होता है उतनी ही उसकी राजनैतिक शक्ति होती है।[17]

यही उपर्युक्त वर्णित शक्ति व उसके विधि सम्मत और नीति सम्मत रूप राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय हैं। लोकयनवाद के अनुसार इस शक्ति का प्रयोग सज्जनों के परित्राण, दृष्टों के दलन तथा न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हेतु करना चाहिए। किंतु हिंसा व अनीति का प्रयोग करके जो राजनैतिक शक्ति प्राप्त की जाती है वह निंदनीय है। ऐसे प्रयोग जनता में भय और आतंक उत्पन्न करते हैं और उन्हें अपने वश में करने का प्रयास करते हैं। जब ऐसे अनैतिक व्यक्ति अपना संगठन बना लेते हैं तब उन्हें आतंकवादी कहा जाता है। वे आतंकवाद के द्वारा सरकार को परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार, आतंकवाद राजनैतिक साध्यों के लिए हिंसा का प्रयोग है जो जनता में अथवा जनता के एक वर्ग में व्यापक भय पैदा करता है। वस्तुतः यह आतंकवाद विधि और व्यवस्था के लिए चुनौती है। अतः लोकतांत्रिक सरकारों को अपने प्रशासनिक साधनों द्वारा इस समस्या को समाप्त करना चाहिए। जनता के उद्‌बुद्ध और शांतिप्रिय वर्गों को भी आतंकवाद के निराकरण हेतु लोकतांत्रिक शासन का समर्थन करना चाहिए।

प्रो. पाण्डेय विधि और अधिकार के संदर्भ में भी चर्चा करते हैं।[18] उनके अनुसार राज्य संस्था के नियम विधि कहलाते हैं जिसकी अभिव्यक्ति विधि व्यवस्था में होती है। चूँकि राज्य आत्मा की शुभेच्छा का मूर्तमान रूप है इसलिए उसकी विधि में आत्मा के नैतिक स्वरूप का प्रकाशन होता हैं। विधि का क्षेत्र मनुष्यों के जीवन व अधिकारों से संबंधित है। इनके बिना कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। इन अधिकारों में स्वतंत्रता का अधिकार, संगठन बनाने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, प्राण रक्षा का अधिकार मुख्य हैं। राज्य का कार्य जनता को इन अधिकारों को प्रदान करते हुए इनके चरितार्थ होने की व्यवस्था करना है, इन अधिकारों की सुरक्षा करना है। जो मनुष्य विधि का अनुसरण नहीं करता विधि उसे दण्डित करती है किंतु कुछ परिस्थितियों में विधि का उल्लंघन विहित हो जाता है। देश के नागरिकों द्वारा विदेशी शासन का विरोध करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्यायोचित है। विधि मूलतः अपरिवर्तनशील होती है किंतु सत्याग्रह, विधायिका व न्यायपालिका द्वारा उसमें परिवर्तन संभव है।

प्रो. पाण्डेय चर्चा के क्रम में राजनैतिक ऋण की व्याख्या करते है।[19] यह एक मौलिक शब्दावली है। उनके अनुसार प्रत्येक नागरिक राज्य का ऋणी है क्योंकि राज्य उस विभु चेतना का अभिकर्ता या एजेंट है जो मनुष्य समाज में व्यापक है और जिसका प्रयोजन सर्वगत कल्याण का लाभ करना है। इसी कारण यदि कोई नागरिक, राज्य या सरकार भ्रष्ट है और अपने प्रयोजन या प्रकार्य से च्युत है तो प्रत्येक सदाचारी नागरिक का कर्तव्य या ऋण उसका विरोध करना हो जाता है। राज्य के विधि–विधान तथा आदेश तभी तक अनुल्लंघनीय हैं जब वे सर्वगत कल्याण के प्रति समर्पित हों। यदि राज्य के आदेश सर्वगत कल्याण के विरोधी हैं तो उन आदेशों का विरोध करना अथवा राज्य की सविनय अवज्ञा करना वैसे ही न्यायोचित है जैसे राज्य के सद् आदेशों का पालन करना। राज्य के प्रति जैसे नागरिकों के कर्तव्य हैं वैसे ही नागरिकों के प्रति राज्य का। दोनों के कर्तव्यों का आधार सर्वगत कल्याण का विमर्श है। इस प्रकार राजनैतिक ऋण का आधार समाज की शुभ इच्छा है जिसका प्रयोजन सर्वगत कल्याण है।

लोकात्मा जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहती है उसकी प्राप्ति में राज्य की अनिवार्य भूमिका है। क्योंकि राज्य का कर्त्तव्य सभी मनुष्य के श्रेयों का समाज के श्रेयों से संतुलन स्थापित करना है जिससे सभी मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर सकें। अतः लोकयनवाद उन मतों का विरोध करता है जो मानते हैं कि राज्य का उन्मूलन संभव है अथवा राज्य दण्ड निरपेक्ष हो सकता है या धार्मिक व्यवस्था राज्य का विकल्प है। लोकयनवाद राज्य को आत्म–लाभ के लिए आवश्यक मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि राज्य के पास दुष्टों को दण्ड देने की शक्ति होनी चाहिए। राज्य में ऐसे भेद व विषमताएँ भी होनी चाहिए जो अनर्थकारी न हों। भेद समाज की विविधता का परिचायक है। आर्थिक विषमता हेतु लोकयनवाद का स्पष्ट मत है कि राज्य को यथासम्भव उसे न्यूनतम सीमा तक रखना चाहिए।

प्रो. पाण्डेय चर्चा की कड़ी में न्याय के आदर्श पर भी ध्यान केन्द्रित करते हैं।[20] उनकी दृष्टि में न्याय मनुष्य के अधिकारों का समन्वय करने वाला उपाय है। इसका आधार नैतिकता है किन्तु नैतिकता का सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मनुष्य की अंतरात्मा से है। न्याय का संबंध उसकी वाह्य परिस्थिति से है जिसका अनुशासन विधि द्वारा होता है। विधि मनुष्यों के नैतिक विकास के लिए वाह्य परिस्थिति का निर्माण और व्यवस्था करती है और नैतिकता इस नैतिक विकास की आंतरिक स्थितियों का विवेचन करती है। लोकयनवाद के अनुसार मनुष्य की अंतरात्मा तथा लोकात्मा अभिन्न हैं। अतएव नैतिक विकास की आंतरिक व वाह्य परिस्थिति की व्यवस्थाओं में सामंजस्य की आवश्यकता है जिसके लिए राज्य को न्याय का अधिकार दिया जाता है।

न्याय का स्रोत यह विचार है कि जो व्यवहार अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के साथ न किया जाये। इसी विचार को यथार्थ बनाने के लिए न्याय की आवश्यकता है जो सभी मनुष्यों के अधिकारों का समन्वय करता है और समाज को यथासंभव संघर्षमुक्त व शांत बनाने का प्रयास करता है। प्राचीन काल से ही न्याय को वितरणात्मक न्याय माना गया जिसका अर्थ है कि न्याय मनुष्यों में सामाजिक हितों का समान वितरण करता है। आधुनिक युग में इन लाभों के पुनर्वितरण की बात कही गयी। पिछड़े वर्गों को मिलने वाला आरक्षण या विशेष अवसर इसी का परिणाम है। अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि–क्या समान अवसर के स्थान पर विशेष अवसर प्रदान करना मनुष्य के अधिकारों में समन्वय हेतु आवश्यक है? यदि आवश्यक नहीं है तो आरक्षण न्यायोचित नहीं। यदि आवश्यक है तो मनुष्य के अधिकारों में समन्वय के स्थान पर पक्षपातपूर्ण वितरण हो जाता है। इस प्रकार न्याय के संप्रत्यय में पुनर्वितरण को जोड़ने से अंतर्विरोध उत्पन्न होते हैं और उनकी निष्पक्षता समाप्त हो जाती है।

अतः न्याय को अंतर्विरोध रहित बनाये रखने के लिए वर्ग विशेष के हितों से जोड़ना उचित नहीं। जो चैतन्य लोक में व्याप्त है उसकी प्राप्ति हेतु किसी वर्ग विशेष को प्रमुखता देना बाधक है।

समत्व ही न्याय का सार है। न्याय का तात्पर्य सभी वर्गों को समान अवसर देना है। किंतु जैसे परिवार का मुखिया अपने सभी पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का समान वितरण करते हुए निर्बल पुत्र की विशेष सहायता करता है वैसे ही राज्य को भी निर्बल वर्गों की विशेष सहायता करनी चाहिए। इस सहायता का आधार न्याय नहीं कृपा है। इस प्रकार निर्बल वर्गों को कृपा की नीति से लाभान्वित किया जा सकता है किन्तु उसके लिए न्याय के आदर्श को गिराना राज्य तथा समाज के लिए घातक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सामाजिक न्याय प्राप्त कराते समय व्यक्ति व समाज के हितों में अंतर्विरोध की समस्या के संदर्भ में लोकानयनवादी समाधान देते हुए प्रो. पाण्डेय कहते हैं कि सामाजिक हित व व्यक्ति के अधिकार दोनों लोकात्मा या चैतन्य पर आश्रित हैं। न्याय का आधार नैतिक बुद्धि है। एक ही नैतिक बुद्धि की अभिव्यक्ति व्यक्ति व समाज दोनों में होती है। दोनों का संबंध बौद्धिक धरातल पर है और दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं।

युद्ध और शांति के संदर्भ में विचार करते हुए प्रो. पाण्डेय युद्ध की अनिवार्यता को सिरे से नकारते हुए शांति का समर्थन करते हैं।[21] उनकी दृष्टि में आधुनिक युग में युद्ध का परित्याग अनिवार्य है। शांति का पथ ही वास्तविक पथ है। शांति का अर्थ प्रायः निषेधात्मक किया जाता है। उसे युद्धहीनता माना जाता है, किन्तु शांति के निषेधात्मक अर्थ के अतिरिक्त उसका एक स्वीकारात्मक अर्थ है; जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य या विश्व में यथासम्भव उन नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो सामाजिक शांति के विरूद्व होने वाले कार्यों का उन्मूलन करें। जैसे– समाज में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक हो जिनमें शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा इत्यादि सदगुण हों तो कभी किसी समुदाय या राष्ट्र के बीच युद्ध नहीं हो सकते। वेदांत का यह नीतिशास्त्र शांति के स्वीकारात्मक अर्थ को स्थापित करता है। इसी का विकास महात्मा गाँधी ने अहिंसा शास्त्र के रूप में किया। भारत के प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रत्येक प्रार्थना के अंत में तीन बार शांति का प्रयोग, समाज की शांति की कामना व संदेश देता है। शांति के द्वारा ही विश्व का कल्याण होता है और विश्व कल्याण के द्वारा विश्व बंधुत्व की स्थापना होती है। पुनश्च विश्व बंधुत्व आत्मा की एकता का प्रतिमान है। इसका अर्थ है कि प्राणी मात्र में जो आत्मा विद्यमान है वह एक और अद्वितीय है।

इसी प्रकार प्रो. पाण्डेय धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में भी अपनी मौलिक अभिव्यक्ति करते हैं।[22] उनके अनुसार–सभी मनुष्य धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकते। मात्र निरीश्वरवादी ही धर्म निरपेक्ष हो सकते हैं और उनकी संख्या नगण्य है। समाज को भी धर्म निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्म से उसका गहरा संबंध है। यद्यपि राजनैतिक दल धर्मनिरपेक्ष हो सकते हैं, किन्तु वे धार्मिक मनुष्यों के विपरीत कोई निर्णय नहीं ले सकते है। केवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राज्य और सरकार इस अर्थ में धर्मनिरपेक्ष हो सकते हैं कि वे राज्य का प्रबंध लोकतांत्रिक संविधान के अनुसार करें और किसी धर्म को अन्य धर्मों पर वरीयता न दें। सर्व धर्म समभाव का पालन करें।

प्रो. संगम लाल पाण्डेय के लोकायनवाद के इस अनुप्रयोगात्मक पक्ष से स्पष्ट है कि लोकायनवाद के प्रणयन के संदर्भ में सैद्धान्तिक रूप से उन्होंने जिन मूलगामी मान्यताओं को स्थापित किया है उससे वे व्यावहारिक या अनुप्रयोगात्मक पक्ष के अंतर्गत कहीं भी उन मान्यताओं से च्युत होते दिखाई नहीं पड़ते। समाज और राज्य के संदर्भ में उन्होंने जो उनकी उद्भावनाएँ हैं, चाहे वह समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद, व्यक्तिवाद मानववाद का विरोध हो अथवा राष्ट्र–राज्य की अवधारणा व विकेन्द्रीकरण का समर्थन, राज्य को लोकात्मा का अभिकर्ता बताना, राज्य को आत्मा की शुभेच्छा का मूर्तरूप मानाना, लोकरीति, लोकबुद्धि को महत्त्व देना, देश प्रेम को भगवद्भक्ति से ऊपर रखना, व्यक्ति व समाज के पृथक् आस्तित्व को स्वीकार करना, धर्म नियंत्रित अर्थ व काम की बात करना, लोकतंत्र व लोक संप्रभुता का समर्थन करना, अहिंसा व शांति की वकालत करना, राज्य को अनिवार्य मानना, व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्रदान करना, समाज में संतो व विद्वानों के आदर किये जाने की बात रखना इत्यादि– ये सभी निष्पत्तियाँ कहीं पर भी लोक–संग्रह, लोक–कल्याण या सर्वगत–कल्याण के पथ से विचलित नहीं हुई। प्रो. पाण्डेय लोकायनवाद के अनुप्रयोगात्मक पक्ष में सैद्धान्तिक पक्ष को पूर्ण न्याय संगततता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह कथन कि – यदि लोक–संग्रह या सर्वगत–कल्याण को स्थापित करने वाला कोई दूसरा सिद्धान्त भी उनके समक्ष प्रस्तुत हो अथवा इस लोकायनवाद में विसंगतियों का निदर्शन करते हुए कुछ सुधार प्रस्तुत किये जायें तो वे उन्हें सहर्ष स्वीकार्य होंगे।[23] उनके लोकायनवाद में नम्यता, उदारता, ग्रहणशीलता व सुधारवादी दृष्टिकोण इत्यादि ऐसे गुण हैं जो उसे आज के सन्दर्भ में एक प्रासंगिक समाजदर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है। लोकायनवाद का अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह सामाजिक व राजनैतिक दर्शन की समस्त समस्याओं का समाधान करने वाला सक्षम सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त इस लोकायनवाद में–पर्यावरण संकट, लिंग–भेद, विकास, बहुसंस्कृतिवाद जैसी समकालीन समस्याओं के समाधान के गुण–सूत्र दिखाई पड़ते हैं जो इस सिद्धान्त के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रति आस्थावान बनाने हेतु पर्याप्त हैं। निष्कर्षतः यह लोकात्मा को प्रतिमान बना कर विकसित हुआ समाज दर्शन है, जबकि आधुनिक समाज विज्ञान और समाज दर्शन व्यक्तिगत–आत्म को प्रतिमान बनाकर विकसित किया गया है।

दर्शनशास्त्र विभाग
हेमवती नंदन वहुगुणा राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, नैनी, प्रयागराज (उ.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *Indian Philosophical Quaterly, Vol.-7, No.-1, 1979, Page no.-145*
2. *पाण्डेय, संगम लाल, समाज दर्शन की प्रणाली, 199, पृष्ठ –155, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, 1999*
3. *Indian Philosophical Quaterly, Vol.-7, No.-1, 1979, Page no.-148*
4. *वही पृष्ठ –148*
5. *वही पृष्ठ –149*
6. *वही पृष्ठ –143*
7. *प्रो. पाण्डेय इसे समाजशास्त्रीय अध्यास कहते हैं, वही पृष्ठ –147*
8. *पाण्डेय, संगम लाल, समाज दर्शन की प्रणाली, 199, पृष्ठ –152, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, 1999*
9. *वही पृष्ठ –154*
10. *वही पृष्ठ –159*
11. *वही पृष्ठ –183*
12. *वही पृष्ठ –184*
13. *वही पृष्ठ –169*
14. *वही पृष्ठ –161*
15. *वही पृष्ठ –162*
16. *वही पृष्ठ –163*
17. *वही पृष्ठ –164*
18. *वही पृष्ठ –171*
19. *वही पृष्ठ –173–174*
20. *वही पृष्ठ –175*
21. *वही पृष्ठ –180*
22. *वही पृष्ठ –170*
23. *वही पृष्ठ –141*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार कांट के दर्शन का तात्पर्य (३)

अरविन्द कुमार राय

कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक पुस्तक के चतुर्थ खंड में भट्टाचार्य जी ने दो मुख्य बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है – (1) विश्लेषणात्मक अध्यवसाय–निश्चय और संश्लेषणात्मक अध्यवसाय में भिन्नता है, (2) सभी कथन या अध्यवसाय जो मननात्मक होते हैं, वे संश्लेषणात्मक होते हैं।'

अध्यवसाय या निर्णय संयोजक या विश्लेषक हो सकता है। जहाँ उद्देश्य निश्चय से विधेय निश्चय भिन्न होता है वहाँ अध्यवसाय संयोजक या संश्लेषण का कार्य करता है, जैसे 'मनुष्य मरणशील है' लेकिन जहाँ उद्देश्य का निश्चय विधेय के निश्चय में अन्तर्भुक्त होता है, वहाँ विश्लेषक होता है, जैसे– 'मनुष्य जीव विशेष है।' यहाँ 'मनुष्य' उद्देश्य है तथा 'जीव–विशेष' विधेय है। लेकिन मनुष्य के गर्भ में मनुष्यत्व तथा जीव विशेष के गर्भ में जीवत्व छुपा हुआ है। 'मनुष्यत्व' का मनुष्य से अभिन्न सम्बन्ध है, अतः वह भी उद्देश्य के रूप से ग्राह्य है तथा जीवत्व का 'जीव–विशेष' से अभिन्न सम्बन्ध है, अतः वह भी विधेय रुप से ग्राह्य है। मनुष्य व्यक्ति की अपेक्षा से, दोनों सामान्य विशेषण हैं। लेकिन मनुष्यत्व की अपेक्षा से जीवत्व विशेष्य है (विशेषण विशेष्य को परिच्छिन्न करता है, मनुष्यत्व जीवत्व को परिच्छिन्न कर रहा है)। अतः यह कहा जा सकता है कि विश्लेषक अध्यवसाय या विश्लेषणात्मक निर्णय वहाँ होता है जहाँ अध्यवसाय मुख्यतः विशेष विशेषणक तथा गौणतः विधेय विशेष्यक होता है। ऐसे निर्णयों का ज्ञान प्रामाणिक होने के लिए आकारी करण की अपेक्षा नहीं करता है, लेकिन संश्लेषणात्मक निर्णय के माध्यम से जो ज्ञान होता है उसमें आकारी करण रहता है। विश्लेषणात्मक कथन स्वतः सिद्ध होते हैं। 'मनुष्य जीव–विशेष है' इस निर्णय में मनुष्य और जीवविशेष का कालिक सम्बन्ध है, लेकिन

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मनुष्यत्व और जीवत्व का कालिक सम्बन्ध न होने से कालिक रूप आकारीकरण की आवश्यकता नहीं है।

कांट के द्वारा प्रतिपादित विश्लेषणात्मक निर्णयों की जो आलोचना आधुनिक काल के महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों ने की है वह बहुत संगति पूर्ण नहीं है। बट्रेन्डरसेल ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों की **पाश्चात्य दर्शन के इतिहास** नामक ग्रंथ में आलोचना करते हुये यह कहा है कि कांट और हेगल, निर्णय या कथन को मात्र उद्देश्य–विधेयात्मक रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, अतः उनके द्वारा इन कथनों के जो लक्षण हैं वे अन्य प्रकार के कथनों पर घटित नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए यदि A>B तथा B>C, तब A>C है, यह कथन सम्बन्धात्मक कथन है। अतः उद्देश्य–विधेयात्मक कथनों के संदर्भ में प्रतिपादित लक्षण यहाँ न्याय नहीं कर सकते हैं।

यह सत्य है कि कांट ने निर्णयों को उद्देश्य विधेयात्मक रूप से समझने का प्रयास किया, लेकिन उसके द्वारा जो विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों के लिए कसौटी दी गयी है, वह ऐसे कथनों पर भी घटित होगी जो उद्देश्य–विधेयात्मक रूप से आधुनिक तर्क शास्त्र में नहीं लिए जा सकते हैं। कांट ने **शुद्ध–बुद्धि की परीक्षा** और स्पष्ट रूप से **किसी भविष्य कालिक तत्त्वमीमांसा की भूमिका** में यह कहा है कि व्याघात का नियम विश्लेषणात्मक कथनों के लिए कसौटी प्रदान करता है। विश्लेषणात्मक कथनों का सत्य मात्र व्याघात के नियम से निर्धारित होता है। अतः उपरोक्त उद्धृत सम्बन्धात्मक कथन व्याघाती न होने से रसेल आदि के मत में सत्य विश्लेषणात्मक रूप में लिया जा सकता है। यदि कोई कहता है कि यदि A>B तथा B>C, तब A<C तब यह कथन व्याघाती होगा। क्योंकि आधार वाक्य से निगमित निष्कर्ष है कि A, C से बड़ा है, जब कि निकाला गया निष्कर्ष है A, C से छोटा है, यहाँ A के दोनों विधेयों में व्याघात स्पष्ट है, अतः दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते हैं।

अनेक और भी आधुनिक दार्शनिकों ने कांट की जो आलोचना की है उसका आधार कांट के दर्शन में प्रतिपादित यह मान्यता रही है कि विश्लेषणात्मक कथन वह है जिसका विधेय उद्देश्य में पूर्व अन्तर्भूत रहता है, विधेय उसका परिष्कार करता है जब कि संश्लेषणात्मक कथन में वह अन्तर्भूत नहीं रहता है। यह सत्य है कि कांट ने दोनों कसौटियों (उद्देश्य में विधेय की पूर्व निहितता तथा सत्य का व्याघात के नियम से निर्धारण को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जोड़ने का प्रयास किया है। ऐसा इसलिए कि उस ने निर्णय को उद्देश्य–विधेय के रूप में विश्लेषित किया है)। लेकिन जब आधुनिक तर्कशास्त्र में सम्बन्धात्मक कथनों की अलग गणना हो रही है, तो कांट के द्वारा दी गयी दूसरी कसौटी का निषेध नहीं दिखाई देता है। रसेल और क्वाइन दोनों ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथन की आलोचना करते समय कांट द्वारा प्रतिपादित इन कथनों के उद्देश्य–विधेयात्मक रूप पर ही ध्यान केन्द्रित किया है, अतः वे कांट के मत के साथ न्याय करते हुए प्रतीत नहीं होते हैं। क्वाइन ने भी 'अनुभववाद की दो रूढ़िवादी मान्यताओं' नामक निबन्ध में विश्लेषणात्मक कथन के रसेल वाले रूप को ही चित्रित किया है। अतः उनका भी मत मूल बिन्दु से बहुत दूर प्रतीत होता है।

आकारी करण की समस्या वैकल्पिक कथनों के संदर्भ में खड़ी होती है जो संश्लेषणात्मक होते हैं। ज्ञान इंद्रिय संवेदन और बुद्धि विकल्पों के योग से होता है। ये दोनों स्रोत विजातीय हैं, अतः उन्हें जोड़ने के लिए ऐसे प्रतिभास की आवश्यकता होती है जो व्यापक होते हुए दोनों के साथ समानता रखता हो। कांट इस प्रतिभास (representation) को अतिविषयक आकार (trancendental schema) कहता है जो काल के अतिविषयक निर्धारण से सम्पन्न होता है। आकार, विषय का वह प्रतिभास है जिसकी संगति विकल्प के साथ होती है। आनुभविक ज्ञानात्मक कथन आकार विशिष्टता के कारण प्रतिफलित होते हैं। सौन्दर्य बोधक कथन अनुचिंतनात्मक होते हैं। सौन्दर्य की संप्रेषणता के लिए, कांट संवेदनात्मक अनुभूति को बुद्धि की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। जिसके द्वारा हम सौन्दर्य की अनुभूति करते हैं कांट उसे 'टेस्ट' कहता है। हम उसे सहृदयात्मक बुद्धि कह सकते हैं जो हमारी अनुभूति को प्रत्ययों के बिना ही सार्वभौम सम्प्रेषण की क्षमता से युक्त कर देती है। अतः प्रत्यय के मौन होने से आकारीकरण की समस्या सौन्दर्यात्मक कथनों के क्षेत्र में नहीं खड़ी होती है।

सैद्धान्तिक क्षेत्र में यदि कोई घटना घटित होती है तो उस पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगा सकते हैं। लेकिन नैतिक क्षेत्र में किसी कर्म के होने पर यह संभावना व्यक्त कर सकते हैं कि इसे नहीं होना चाहिए था, क्योंकि यह नैतिक आदेश के प्रतिकूल है। 'क्या होना चाहिए' के क्षेत्र में और 'क्या है' के क्षेत्र में नियम की प्रामाणिकता की शर्तें पृथक्–पृथक् है। 'क्या है' के क्षेत्र में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रामाणिकता के लिए संवेदन की आवश्यकता होती है, लेकिन 'क्या होना चाहिए' के क्षेत्र में संवेदन की नहीं अपितु संकल्प व्यापार को निरपेक्ष आदेश से शासित करने की आवश्यकता होती है।

जब हम व्यवहारिक बुद्धि के क्षेत्र में उतरते हैं तो विषय को प्राप्त करने के दो विकल्प हैं : विषय हमारी व्यवहारिक बुद्धि को शुभ और अशुभ का विधान करने के लिए बाध्य करें या नैतिकता का निरपेक्ष आदेश, संकल्प शक्ति को शासित या अशासित करते हुए शुभ और अशुभ विषयों को जन्म दे। कांट द्वितीय विकल्प को ही मान्यता देता है। हम किसी कर्म को शुभ या अशुभ तभी कह सकते हैं जब यह निश्चय हो कि हमारा संकल्प नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के अनुकूल है या प्रतिकूल है। कांट के अनुसार शुभ और अशुभ, मुख्यतः कर्मों के प्रकार हैं, व्यक्ति को होने वाले संवेदन के प्रकार नहीं है। इसलिए हम यहाँ किसी उदाहरण के उस आकार से नहीं प्रवर्तित होते हैं जो नियमों के साथ संगति रखते हैं, अपितु स्वयं नैतिक नियम के आकार से प्रवर्तित होते हैं जो हमारे संकल्प को शासित कर के तदानुकूल कर्मों को जन्म देते है। कांट कहता है – "Here however, we have to do, not with the schema of the case that occurs according to laws, but with the schema of a law itself (if the word is allowable here), since the fact that will (not the action relatively to it effect) is determined by the law alone without any other principle"[2] भावार्थ यह है कि यहाँ हमारी रुचि किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये विशेष कर्म में न हो कर इस में होती है कि यह कर्म निरपेक्ष नैतिक आदेश के नियम के आकार के अनूकुल है या नहीं। इसीलिए कांट कहता है कि यहाँ प्रसंग नियम के आकार का है (schema of the law), घटना के आकार का नहीं (schema of the case)। शुभकर्म में संकल्प की पवित्रता भी अपेक्षित है, अतः मात्र किसी आचरित कर्म के आकार के साथ संगति के आधार पर उसे नैतिक नहीं कहा जा सकता है।

निर्णयात्मक बुद्धि का प्रकार्य तीनों परीक्षाओं में भिन्न–भिन्न है, लेकिन इसकी मुख्य भूमिका मध्यस्थता के रूप में घटित होती है। निर्णयात्मक बुद्धि का मुख्य कार्य, हमारे लिए सामान्य और विशेष को जोड़ने की प्रक्रिया में पथ प्रदर्शन करना है। ज्ञानात्मक क्षेत्र में इसका कार्य, विशेष का अन्तर्भाव सामान्य के अन्तर्गत करना होता है। ऐसा सैद्धान्तिक बुद्धि के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्षेत्र में होता है। संवेदनात्मक क्षेत्र प्रयोजनता का क्षेत्र है। अतः वहाँ इसका कार्य अनुचिंतनात्मक कथनों के माध्यम से विशेषों के लिए मार्गदर्शक नियामक सामान्य सूत्र का अन्वेषण करना है। नैतिकता के क्षेत्र में निरपेक्ष नैतिक आदेश के समानान्तर हमें ऐन्द्रिक अनुभूति नहीं होती है, इसलिए यहाँ आकार की आवश्यकता नैतिक निरपेक्ष आदेश के घटित होने के लिए नहीं होती है। अतः बुद्धि, निर्णयात्मक बुद्धि की तुष्टि के लिए प्रज्ञा के एक विज्ञान (an idea of reason) को उपस्थित करती है, इंद्रियाकार को नहीं (क्योंकि इन्द्रिय संवेदन नहीं होता है)। बुद्धि एक नियम को प्रस्तुत करती है। इस नियम में ऐन्द्रिक क्षेत्र में अभिव्यक्त होने की क्षमता होती है। इसलिए इस नियम को प्रकृति का विधान कह सकते हैं। इस विधान को हम नैतिक नियम का प्रतीक (type) कह सकते हैं। अतः हम ऐन्द्रिक संस्थान को अतिन्द्रिय संस्थान का प्रतीक (type) मान सकते हैं लेकिन हमें यहाँ ध्यान रखना होगा कि हमारी निर्भरता यहाँ ऐन्द्रिक संस्थान में घटित संवेदन पर न होकर मात्र विधान के आकार पर होती है।[3]

कांट प्रकृति के सार्वभौम नियमों को नैतिक शुभ की दृष्टि से मात्र प्रतीकात्मक (typic) मानता है। यह प्रतीकात्मक समझ एक ओर हमें अनुभववाद तथा दूसरी तरफ रहस्यवाद के दोषों से मुक्त करती है। ये दोनों नैतिक विषयों का विधान (सुख आदि के रूप में) नैतिकता के निरपेक्ष आदेश से मुक्त अवस्था में ही कर लेते हैं, अतः जहाँ प्रतीक की आवश्यकता है, वहाँ आकार मान लेते हैं या कांट के शब्दों में प्रतीक को आकार के रूप में लेते हुए नैतिक प्रत्ययों के अनुरूप इन्द्रिय या अतीन्द्रिय अनुभूति के जाल में फंसकर उलझ जाते हैं। अतः नैतिक क्षेत्र में आकार नहीं, प्रतीक की भूमिका होती है।[4]

भट्टाचार्य जी ने जो विश्लेषण किया है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ध्यानात्मक या मननात्मक निर्णय में दोनों प्रकार के ज्ञानात्मक विश्लेषण और विश्लेषणात्मक निर्णयों के धर्म पाये जाते हैं। वे संश्लेषणात्मक निर्णयों की तरह संयोजनात्मक होते हैं तथा विश्लेषणात्मक नियमों की तरह स्वतः सिद्ध होते हैं। मनन के दो प्रमुख भेद हैं– आनन्दात्मक तथा श्रद्धात्मक या सम्मानात्मक। आनन्दात्मक मनन, ज्ञानेतर निश्चय मात्र होते हैं। अतः संयोजक होते हुए भी आकारी करण की झंझट से मुक्त होते हैं। सौन्दर्य का विधान करने वाले संश्लेषणात्मक कथन भी आकारी करण के झंझट से मुक्त होते हैं। सम्मानात्मक अध्यवसाय या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रद्धात्मक अध्यवसाय विषय–ज्ञान रूप नहीं होता है; आत्मज्ञान रूप होता है। कृति रूप आत्मा का ज्ञान ही होता है अतः यहाँ भी आकारीकरण की आवश्यकता नहीं होती है।

भट्टाचार्य जी के अनुसार, यह निश्चय परीक्षा भी श्रद्धात्मक अध्यवसाय और कृत्यात्मक आत्म ज्ञान का परिष्कार है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही भट्टाचार्य जी ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कांट के दर्शन के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए ज्ञान और ज्ञानेतर निश्चय या मननात्मक निश्चय में भेद आवश्यक है। श्रद्धात्मक मनन वहाँ होता है जहाँ आत्मा आलम्बन होती है। आनन्दात्मक मनन वहाँ होता है जहाँ विषय आलम्बन होता है। आत्मसम्मान परिपूर्ण होकर श्रद्धा बन जाता है। आनन्दात्मक अवस्था, स्थित–प्रज्ञ की अवस्था को संकेतित करती है। इस प्रकार का बोध, युक्त नैतिक अवस्था में होता है। अयुक्त नैतिक अवस्था में श्रद्धा, भ्रामक हठात्मकतावश, दंभ के रूप में प्रगट होती है तथा आनन्द, विलास बन जाता है। इन दोषों के प्रति सजग करने के लिए ही श्रद्धात्मक अध्यवसाय और कृतयात्मक अध्यवसाय का विश्लेषणातमक परिष्कार आचार्यजी ने इस ग्रंथ में किया है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *कांट के दर्शन का तात्पर्य, चतुर्थ खंड।*
2. *The Critique of Practical Reason, Book I, II*
3. *Ibid*
4. *Ibid; See Cassirer, H.W., A Commentary on Kant's Critique of Judgement, pp. 74-77*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वसंवेदन

मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : वृजकिशोर त्रिपाठी

स्वसंवेद्यो रामः धृतनरवपुः संवृतिसहः
स्फुरद् विज्ञानं यो निरवधिदशादोषरहितः।
न कर्मत्वं यस्मिन् ह्यजडतनुरेवास्ति स्वमतिः
अपायात्पायात् सः विगतभवकल्पः प्रभुरयम्।।1।।
यच्चित्राद्वैतविज्ञानं स्ववेदनात्प्रमीयते।
तस्मान्निरूप्यते सम्यक् 'रामकृपा'ऽनुवादतः।।2।।

प्राक्कथन –

दर्शन का उत्कर्ष उसकी ज्ञानमीमांसा पर आश्रित है। भारतीय दर्शनों में बौद्धविज्ञानवाद ने ज्ञानमीमांसा को उसके चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। ज्ञानमीमांसा में प्रायः प्रमा, प्रमाण, प्रमाण भेदादि के साथ ज्ञान की स्वसंवेदनता एवं परवेदनता पर विचार किया जाता है। विज्ञानवादियों के लिए तो विषय (ग्राह्य) ज्ञानान्तर्गत है या बाह्यः, यह भी इसी का विवेच्य विषय बन जाता है। पुनः ज्ञान का आकार अर्थात् नीलाद्याकार उसका अपना स्वरूप है अथवा वह आरोपित है, इसका विवेचन भी इसी के क्षेत्रान्तर्गत है।

ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है, इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में विभिन्न मत हैं। सांख्य के अनुसार बुद्धि के वृत्तिरूप ज्ञान का प्रकाश चेतन पुरुष द्वारा, नैयायिकों के अनुसार अनुव्यवसाय द्वारा, आचार्य कुमारिल के अनुसार अनुमान द्वारा तो प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश से कुछ भिन्न 'त्रिपुटीभास' मानते हैं।

वैभाषिकों को छोड़कर यद्यपि प्रायः सभी बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को स्वयं संविदित मानते हैं। तथापि विज्ञानवादियों के लिए स्वसंवेदन की सिद्धि अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी के आधार पर उनकी सारी प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा ठहरी हुई है। ज्ञान स्वसंवेदनरूप या स्वयंप्रकाश होता है,

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019-जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसकी सिद्धि होने पर विज्ञप्तिमात्रता के परमार्थ तत्त्व होने की बात सिद्ध होती है और प्रमाणमीमांसा में ज्ञान के लिए विषय के रूप में किसी बाह्य अर्थ की भी अपेक्षा नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में, विज्ञानवादियों की यह घोषणा चरितार्थ हो जाती है कि ज्ञान स्वरूपतः अविभाग है, तथापि भ्रान्तिवश ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति के परस्पर पृथक् रूप में परिलक्षित होता है।

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी दोनों ही स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक स्वसंवेदन मानते हुए भी बाह्यार्थवादी, जबकि विज्ञानवादी स्वसंवेदन से विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि करते हैं।

योगाचार सम्प्रदाय के युक्त्यनुयायी एवं आगमानुयायी दोनों ही प्रकार के विज्ञानवादी स्वसंवेदन मानते हैं। विज्ञानवादी बाह्यार्थ का निरास करने के लिए सहोपलम्भनियम का हेतु के रूप में प्रयोग करते हैं, यथा–नीलनीलविज्ञाने, द्रव्यतोऽभिन्ने, सहोपलम्भनियमात्, नीलपीतवत्; अर्थात् नील और नील का विज्ञान द्रव्यतः अभिन्न हैं क्योंकि इनका युगपत् उपलम्भ होता है जैसे नील और पीत का।[1]

कोई भी विज्ञान जब विषय में प्रवृत्त होता है तो साथ में स्वसंवेदन भी प्रवृत्त होता है। वह स्वसंवेदन उस विज्ञान से सर्वदा भिन्न नहीं होता। जैसे दीपक, अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ स्वयं को भी प्रकाशित करता है।

स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में आचार्य भावविवेक ने अपने 'मध्यमकहृदय' नामक ग्रन्थ में और उसके 'तर्कज्वाला' नामक भाष्य में स्वसंवेदन का बड़े युक्तिपूर्वक ढंग से खण्डन किया है। वे कहते हैं कि जैसे तीक्ष्ण असिधारा स्वयं को नहीं काट सकती, सुप्रशिक्षित नट भी अपने स्कन्ध पर नहीं आरूढ़ हो सकता तथा सुप्रज्वलित अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती, उसी प्रकार चित्त–चैतसिक (ज्ञान) अपने को नहीं जान सकते। यदि बाह्यालम्बक ज्ञान से भिन्न कोई स्वसंवेदन है तो वह परवेदन ही होगा। उसके अनुसार स्वसंवेदन का सिद्धान्त कल्पितमात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विषय में स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का सिद्धान्त विज्ञानवादियों से विपरीत है।

आचार्य भावविवेक के अनन्तर योगाचार माध्यमिक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य शान्तरक्षित इस दर्शन के प्रवर्तक हैं। आचार्य कमलशील तथा धर्मोत्तर ने आगे चलकर इसके विकास में महत्त्वपूर्ण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

योगदान किया। आचार्य शान्तरक्षित भी विज्ञप्तिमात्रतावादी हैं, अतः उन्होंने स्वसंवेदन का जोरदार ढंग से समर्थन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वसंवेदन के विषय में आचार्य शान्तरक्षित और विज्ञानवादियों में ऐकमत्य है।[2]

ज्ञान निःस्वभाव होता है, अतः प्रासंगिक माध्यमिक मत में स्वसंवेदन नहीं माना जाता है। ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर आश्रित है और ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित है। अतः ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसको जानने वाले स्वसंवेदन की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि स्वसंवेदनवादियों के पास स्वसंवेदन को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त एवं पुष्ट युक्तियों का भी अभाव है।

प्रासंगिक माध्यमिक कहते हैं कि स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए दीपक या अग्नि का दृष्टान्त देना ही गलत है; क्योंकि दीपक या अग्नि अपने आप को प्रकाशित ही नहीं करते। अतः यह विसदृश दृष्टान्त है।[3] कहने का आशय यह है कि अंधकार में स्थित घटादि वस्तुओं को दीपक भले ही प्रकाशित करता हो परन्तु वह स्वयं को प्रकाशित नहीं करता क्योंकि वह पहले से अन्धकार में स्थित नहीं है।[4] आपके कथनानुसार यदि अग्नि अन्य की भाँति अपने को भी प्रकाशित करती है तो अन्य की ही तरह स्वयं को जला भी क्यों नहीं देती ?[5] समानतया अन्धकार को भी दूसरों की तरह स्वयं को भी ढ़क देना चाहिए।[6] फलतः उपर्युक्त दृष्टान्तों से साध्यसिद्धि असम्भव है।

स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन शब्द इस अर्थ का वाचक है कि ज्ञान स्वयं द्वारा ही ज्ञात होता है और अपने ज्ञान के लिए इसे अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ में[7] कहते हुए आचार्य दिङ्नाग ज्ञान की स्वसंवित्ति एवं साकारता की सिद्धि ज्ञान के द्वैरूप्य के आधार पर करते हैं जिसका अनुसरण धर्मकीर्ति और उनके बाद के बौद्ध दार्शनिकों ने किया। आचार्य धर्मकीर्ति ने विज्ञान को नीलाद्याकाररूप[8] में स्वीकार किया है। अर्थधर्म लिङ्गक अनुमान से बुद्धि की वेदनता के खण्डन के प्रसंग में प्रज्ञाकर विज्ञान की स्वसंवेदनता स्वीकार करते हैं।[9] आचार्य शांतरक्षित ने न केवल स्वसंवित्ति का लक्षण[10] ही किया है अपितु स्वसंविदित विज्ञान को जड़ से भिन्न अजड़रूप भी स्वीकार किया है।[11]

इस प्रकार स्वसंवेदन का सिद्धान्त योगाचारनय की विज्ञप्तिमाषता के सिद्धान्त पर आधारित है। निराकारविज्ञानवादी धर्मोत्तर ने भी ज्ञान की स्वसंवेदनता स्वीकार करते हैं।[12]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा के लिए ज्ञान की स्वसंवेदनता प्राणस्वरूप है क्योंकि इसकी सिद्धि हो जाने पर यह भी प्रदर्शित हो जाता है कि 'ज्ञान का ज्ञेय से कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता और न ही उनके बीच कोई व्यापार हो सकता है।' स्वसंवेदन–सिद्धि में विपक्षियों विशेषकर प्रासंगिक माध्यमिकों द्वारा उठाए गये सभी संभावित आक्षेपों का समाधान करके ज्ञानश्री स्ववेदन का लक्षण करते हैं– 'स्वप्रकाशिनि तु नान्यापेक्षिततथासिद्धिरेव स्वसंवेदनस्थितिः।' विज्ञान की स्वसंवेदनता के विषय में पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के क्रम में ज्ञानश्री ने इस 'स्वसंवेदनप्रकरण' में इस प्रकार विचार किया है –

हिन्दी रूपान्तरण

पूर्वपक्ष –

चूँकि पूर्व प्रतिपादित सम्पूर्ण शास्त्रविस्तार स्वसंवेदन का विलास है और युक्ति तथा आगम से निगृहीत हो जाने से स्वसंवेदन है ही नहीं; फलस्वरूप उस (=स्वसंवेदन) के अभाव में विचित्र चित्राद्वैत की व्यवस्था कैसे/किससे होगी? (साकारविज्ञान के स्ववेदन की) अलीकता का परिहार न होने से समन्तभद्रत्व[1] की स्थिति भी नहीं होगी।

उत्तरपक्ष –

इस विषय में प्रश्न है कि,

क्या विज्ञान ही नहीं है ? अथवा क्या विज्ञान तो है किन्तु स्ववेदन नहीं है ? प्रमेय को छोड़कर विज्ञान कैसे रह सकता है ? प्रमेय का त्याग क्या स्ववेदन में ही है अथवा परवेदन में भी है ? ये समस्त प्रश्न निर्णय में समाहित नहीं हैं अर्थात् अनिर्णीत हैं।

यथा कि,

जड़–भिन्न अर्थात् चेतनावान् मनुष्यों के द्वारा यह कहना सम्भव नहीं है कि 'मेरी संवित्ति नहीं हैं'। यह संवित्ति कहीं/कभी भी परतः नहीं होती। परिस्फुरणावस्था में यह सत् ही है।[2] परिस्फुरणावस्था में भी संवित्ति यदि स्वयमेव सत् नहीं है अर्थात् स्फुरणात्मा संवित्ति यदि स्वसंवेदनतया सत् नहीं है तो परवेदन की स्थिति में सत् कैसे होगी ? 'संवित्ति का न तो स्वतः और न ही परतः सत्त्व है' अर्थात् 'स्फुरणस्वभाव संवित्ति की सत्ता न तो स्वसंवेदन होने से और न ही परवेदन होने से सिद्ध है' यह कहना स्वयमेव अनुचित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसका यह अर्थ है –

क्या कोई जड़ भी कह सकता है कि 'संवित्ति ही नहीं है'। यदि न तो वक्ता हो और न ही श्रोता तो भी यह स्वनिर्भास (=स्वसंवेदन) है ही।

परतः वेदन तो अन्यत्र निरस्त किया जा चुका है इसलिए उसे रहने दिया जाय।

माध्यमिकों का खण्डन

यदि कहें कि स्वसंवेदन का सर्वथा वारण नहीं किया जा रहा है, किन्तु उसे सांवृत कहा जा रहा है तो इसके उत्तर में कहते हैं कि तो सर्वथा निषेध के अभाव में स्ववेदन का सांवृतत्व बाधकाधीन होगा। (प्रश्न करते हैं कि) बाधा भी प्रमेय से भेदपूर्वक होती है या कि अनुभव से ? (यदि कहें कि प्रमेय से, तो) प्रमेयबाधा के कारण ही उस सांवृत स्ववेदन की स्थिति नहीं बनेगी। ऐसी स्थिति में, (प्रमेय से बाधा का) भेद होने से अनुभव में भेद होने के कारण (सांवृती) स्वानुभूति कैसे होगी? (अर्थात्– बाधा अलग और प्रमेय अलग, जिससे प्रमेयानुभव से बाधानुभव भिन्न होगा, फलस्वरूप भिन्न बाधानुभव, प्रमेयानुभव का बाध कैसे करेगा ?) फिर प्रमेय–बाधा तो इन्द्र भी नहीं कर सकता।

(यदि कहें कि अनुभव से तो) स्फुरत्–स्वरूप अनुभव ही (बाधित होने से) नहीं है, यह नहीं हो सकता।

परवेदन का खण्डन–

अपि च, (यदि कहें कि) स्फुरत् अनुभव का सर्वथा निषेध नहीं कहते, अपितु 'स्वयंवेद्य नहीं है, परवेद्य तो है ही। लेकिन ऐसा नहीं है (क्योंकि)–

(आपको) यदि स्ववेदन में भी अविश्वास है, तो परवेदन की बात ही क्या है? स्ववेदन के अभाव में परवेदन भी असत् होगा।

यदि (कहें कि) पर से वेद्यमान पर सत् है (तो प्रश्न है कि पर जो वेदक वह स्वयं सत् है कि असत् ? यदि कहें कि सत्, तो वह भी) पर ही है तो सत् कैसे होगा ? (यदि कहें कि असत् तो) असत् ही अन्य के सत्ताव्यवहार का साधन नहीं हो सकता। (यदि कहें कि पर वेदक अन्य से वेद्यमान होता हुआ पर की सत्ता का साधक है तो उत्तर देते हैं कि) पर की सत्ता यदि अन्य से वेदन होने पर मानी जायगी तो उस अन्य की सत्ता अन्य से वेदन मानने पर सिद्ध होगी इस स्थिति में अनवस्था दोष होगा। यदि कहें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि परसत्ता ऐसी ही है। (अर्थात् परसत्ता अन्यानपेक्ष स्वतः है।) तो प्रमेय में भी ऐसा ही हो। अर्थात् प्रमेय की भी स्वयं सत्ता हो जाय।

यदि स्वयमेव सत्त्व है तो उस जड़ का प्रकाश भी स्वयं हो जाय। ऐसी स्थिति में स्वसंवेदनवादी एवं परसंवेदनवादी दोनों के मत में स्वकारित्र (= स्वयं कर्मकर्त्तृत्व) का विरोध समान है।

पूर्वपक्ष

(प्रासंगिक माध्यमिकों का पक्ष है कि) जो परवेदन को मानते हैं उनमें यह दोष होवे। मेरे लिए न तो स्ववेद्य है न परवेद्य ?

उत्तरपक्ष

कोई चेतनावान् ऐसा नहीं कह सकता (अर्थात् किसी विचारवान् विज्ञ पुरूष का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह यह कह सके कि ज्ञान न तो स्ववेद्य है न परवेद्य)। 'जो स्वतः अथवा परतः स्फुरित हो रहा है वह अर्थ है ही नहीं' यह न तो वचनमात्र से और न ही अनभीष्ट होने से कहा जा सकता है। यदि प्रमाण का अनुसरण करें, तो पहले प्रत्यक्ष को लेकर अन्य प्रमाणों का परिगणन करना चाहिए। अनुमानादि में ही इष्ट–अनिष्ट की बात देखी जाती है, प्रत्यक्ष में नहीं। परोक्ष–विषय (=अनुमान के विषय) में ही शेष–अशेष की बात हो सकती है, प्रत्यक्ष के विषय में न तो विधि और न ही बाध(=निषेध) किए जा सकते हैं। उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाता है जिसके स्वरूप का साक्षात् निर्भास होता है। स्वरूप का यह निर्भास स्वतः है अथवा परतः इससे क्या ?

यदि परव्यापार होने पर भी इसका स्वरूपज्ञान (=स्वसंवेदन) न हो, तो वह स्वरूप प्रच्युति ही है। ऐसी स्थिति में अन्य बाधकों के द्वारा भी क्या किया जायगा ? (क्योंकि स्वरूप प्रच्युत का बाध कैसा ?)

जिसके कारण आत्मनिर्भास (=स्वप्रकाश, स्वसंवदेन) होता है उसके ही कारण वह बाधित नहीं होता। (तात्पर्य यह है कि चूँकि स्वसंवेदन हो रहा है अतः बाध नहीं होगा।) अपने अर्थावभास के कारण ही बाधक का बाधकत्व है। (अर्थात् यदि बाधक का स्वार्थावभास नहीं होता तो बाधक, बाधक कैसे होता ?)

वह भी उसी पात्र से धनवान् है अर्थात् बाधक ज्ञान भी स्वप्रकाशता के कारण ज्ञान बनता है अतः वह जिसके कारण ज्ञानवान है उसी स्वसंवेदनता का बाधक कैसे होगा ? फलस्वरूप प्रकाशमान का कोई बाध नहीं हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रश्न– पर के द्वारा प्रकाशित होने पर, पर के द्वारा ही उसकी रक्षा हो सकती है। स्वयं भासित होता हुआ ज्ञान अनाथ की स्थिति में रहेगा और प्रभावशाली पर के द्वारा बाधित हो जायगा ?

उत्तर– बताया जा चुका है कि पर भी स्वप्रकाशन के द्वारा ही उपयोगी है, न कि सत्तामात्र से और न ही भुजाएँ फैलाकर प्रहार रोकने से। उस (=पर) का, स्वप्रकाशनस्वरूप को संभालने के अतिरिक्त उपयोग नहीं है। अपितु,

अपने बल से ही कोई बलवान् होता है। जो अन्य के बल से बलवान् है वह तो वस्तुतः दुर्बल है (क्योंकि) स्व और पर सभी अपनी रक्षा में सावधान रहते हैं।[3]

इस स्थिति में पर भासन मानने में असत्ख्याति, विपरीतख्याति, स्मृतिप्रमोष एवं दृष्टिप्रमोष आदि विविध भ्रमकल्पनाएँ देखी जाती हैं किन्तु स्वहेतु से प्रकाशरूप की निष्पत्ति मानने पर वे सम्भव नहीं होतीं।

जो ज्ञान जिस रूप में भासित होता है वह उसी रूप में व्यवस्थित है। अन्य में (=अन्याकार) रूप धारण कर ज्ञान अन्यथा भासित नहीं होता।

ज्ञान का जिस समय जो रूप स्फुरित होता है; वह ज्ञान ही है। {अर्थात् ज्ञान का रूप (=आकार) ज्ञान से भिन्न नहीं है} ज्ञान का अपने आकार के साथ एकीकरण के कारण बाह्य (=आकार की बाह्यता) भी भ्रम है।

जब अभ्यास के कारण सर्वथा निरस्त विभ्रम की आशंका वाला स्वरूप निर्भासी बाह्य ज्ञान भी अनुभव का विषय है तो बाध–शंका कहाँ ? फिर स्वानुभव की बात ही क्या है ? केवल उस प्रकार का ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है और उसका निश्चय कैसे होता है? (यह विचारणीय है)।

जिस प्रकार दीपक अपने हेतुओं से पीताभासरूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार विज्ञान अपने हेतुओं से जिस प्रकार नीलस्वभावतया उत्पन्न होता है वैसे ही बोधरूपतया भी। निष्कर्षतः विज्ञान अपने कारण से ही नीलाकारज्ञानरूपतया उत्पन्न होता है।

तो फिर आपने अन्यत्र जो यह कहा है कि 'यह स्ववेदन ही है परवेदन नहीं वह कैसे ?' उत्तर है कि प्रसंगानुसार स्ववेद्य अथवा परवेद्य प्रतिभासमान ही रूप अबाध्य है और वह सिद्ध है।

(जबकि) अपर प्रमाण अनुमान का भी प्रमाणान्तर द्वारा बाध नहीं होता, तो फिर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बाध की बात ही क्या है ? यह स्वसंवेदन सभी प्रमाणों का प्राग्वर्ती है, मूल है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

त्रौरूप्य हेतु के परिशुद्ध–ज्ञान से उत्पन्न अनुमान का प्रमाणान्तर से अवमान नहीं होता। इसी प्रकार शब्दादि का भी समझना चाहिए। एक ही समय में एक ही धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्मों के साधन में दो समर्थों की संभावना नहीं है, यह प्रायः आक्षिप्त (=निराकृत) है। परन्तु एक समर्थ के विषय (=साधनीय धर्म) की दृढ़ता के अभाव में बाध्य–बाधकभाव होगा। दोनों समर्थों के स्वविषय की दृढ़ता और अदृढ़ता अन्त में प्रत्यक्ष के ही स्खलन और इतर(=अस्खलन) द्वारा निर्धारित होती है।[4] प्रत्यक्ष का स्खलन विषय में भ्रम ही है। भ्रम तो पर (=ज्ञानभिन्न बाह्य के) वेदन के नियत है। फलस्वरूप संवेदन का प्रतिद्वन्द्वी कौन है ? (अर्थात् कोई नहीं)।

स्ववेदन के भ्रमत्व का खण्डन –

जैसा कि पूर्व में कह आए हैं कि निरस्त विभ्रम आशंका वाले बाह्य में भी जब बाधा नहीं है तो अद्वय अनुमान से स्वयमुत्पन्न स्ववेवदन[5] का बाध कैसे होगा?

आशंका –

विप्लव परवित्ति नियत ही होता है[6] ऐसा कहना सम्भव नहीं है क्योंकि व्यापकानुपलंभ[7] (=परवेदन का अभाव) होने पर भी परवेदन के अध्यवसाय के द्वारा स्ववेदन व्यापार का अनुविधान न होने से यह कहा जा सकता है कि स्ववित्ति में ही यह विप्लव है। उस स्थिति (=परवेदन के अध्यवसाय के द्वारा स्ववेदन व्यापार का अनुविधाान न होने) में भी स्ववेदन में सत्तामात्र के रूप में बाह्य का अस्तित्व ठीक वैसा ही रहता है जैसे कि संस्कारी पुरुष में पूर्व के संस्कारों का प्रक्षालन हो जाने पर भी श्रुतसंस्कार का भाव सत्तामात्र के रूप मे रहता है।[8] यही तो महामोह का सामर्थ्य है। विरोधी कह सकता है कि स्खलन (=भ्रम) संस्कार के बिना भी सम्भव है। (अतः बाह्यभिनिवेश के संस्कार का आलम्बन आप क्यों ले रहे हैं?)

समाधान– तब तो जीवन स्खलन के बिना नहीं हो सकता केवल मरण ही भ्रम से मुक्ति का उपाय है।[9] बौद्धों[10] की यह बहुत सही स्थिति है। अपि च 'स्ववेदन व्यापक है। (क्योंकि सभी ज्ञान अपने स्वरूप में स्वेवदन हैं।) अतः उसका अभाव अशक्य दर्शन है।' ऐसी स्थिति में 'अनादि अविद्या से उत्पन्न विप्लव (= भ्रम) भी उसी (=स्ववेदन) का है' ऐसा कहने वालों की व्यापकानुपलब्धि से साध्य निःस्वभावता[11] के भी स्वाभावारोप और रागादि विप्लव दूर (=अलग) नहीं हैं। (इस प्रकार सत्तामात्र[12] से विप्लव की स्थिति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हमारे विज्ञानवादी और आप प्रासंगिक माध्यमिक के यहाँ समान होने के साथ–साथ आपके और हमारे मत की) प्रत्यनीकाकारता (=विरोधिता) भी साधारण है। (आप सभी धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं और हम विज्ञप्तिमात्र मानते हैं। कौन सा मत ग्राह्य है? आपके विरोधी हम, हमारे विरोधी आप। विरोध उभयसाधारण है)।

फलस्वरूप सत्तामात्र से ही (भ्रम के लिए स्ववेदन की) उपयोग व्यवस्था नहीं है। उपयोग मान भी लें तो उक्तानुसार उस (=स्वसंवेदन) के व्यापार के अननुविधायी विकल्प (=अध्यवसाय) के द्वारा उत्थापित (उक्त) व्यापकानुपलंभ, स्ववेदन का भ्रमत्वापादन कराने में समर्थ नहीं है। स्वसंवेदन के भ्रमत्वापादन में अप्रभावी वह व्यापकानुपलंभ एकविषय होने के कारण सम्बन्धादि के ग्राहक परवेदन को ही अप्रमाणित करता हुआ उसे ही दोषयुक्त बनाएगा।[13] न कि अत्यन्त भिन्न विषयक स्ववेदन को। विज्ञानवादी पुनः कहता है कि ज्ञान की भ्रान्तता के साधन में यदि परवित्ति को प्रमाण माना जाय तो (परवेदन अविशिष्ट होने के कारण उस भ्रान्तता को) बाधित करने वाले (अर्थात् भ्रान्त सिद्ध करने वाले) अनुमान को प्रमाण मानना होगा।[14] यदि भ्रान्तता सिद्ध करने के लिए परवित्ति को प्रमाण न माना जाय तो हमारे द्वारा दिए गये अद्वय अनुमान से ज्ञान की अभ्रान्तता सिद्ध होगी।[15] फलस्वरूप अनुमानोदय द्वारा परवित्ति में ही विप्लव (=विपत्ति) है स्ववित्ति में नहीं। ऐसी स्थिति पूर्वोक्त व्यापकानुपलंभ द्वारा स्ववित्ति के भ्रमत्वापादन में नहीं है क्योंकि उक्त महामोह सामर्थ्य का निरूपण नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष विशेष के बाधित होने से सभी स्वसंवेदनादि ज्ञानों को बाधित करने के लिए साधनावधान (=अनुमान प्रयोग) करना उचित नहीं है। हाँ, स्वेच्छा से स्वसंवेदन के विषय को भी कोई भले ही पक्ष बना लें।

प्रश्न– प्रासंगिक माध्यमिक पुनः कहता है कि यह अनुमान प्रयोग व्यर्थ तो तब होगा जब विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि होगी। विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के पहले ही व्यापकानुपलंभ के उदय से निःस्वभावता की सिद्धि हो जायगी। विज्ञप्तिमात्रता के साधन का अवसर ही नहीं है।[16]

उत्तर– ऐसी बात नहीं है। माध्यमिक जैसे ही नील की निःस्वभावता की प्रतिज्ञा करेगा त्यों ही स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से उसका पक्ष खण्डित हो जायगा।[17]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रश्न– यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निःस्वभावता का प्रतिक्षेप करता है तो प्रकाशमानतादि हेतुओं द्वारा अनुमान से विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि[18] व्यर्थ हो जायगी।

उत्तर– विज्ञप्ति व्यवहार के लिए उक्त हेतुक अनुमान का उपयोग है।[19]

प्रश्न– माध्यमिक पुनः प्रश्न करते हैं कि (अतद्व्यावृत्ति द्वारा) पर–प्रकाशता के निषेधपूर्वक सिद्ध की गयी स्वप्रकाशता (=स्वसंवेदनता) विज्ञप्तिमात्रता व्यवहार को सिद्ध करती है। सर्वथा परवेद्यत्वाभाव अथवा निस्वभावता होने पर स्ववेदन–हेतुक अनुमान से विज्ञप्तिमात्रता का व्यवहार कैसे होगा?

उत्तर– यह उचित नहीं है। संवृति की अवस्था में ही साध्य–साधन पर विश्वास किया जाता है। स्ववेदनरूप परमार्थकाल में साध्य–साधन दोनों तत्त्वों की असिद्धि है। जिनको स्ववेदन प्रत्यक्ष द्वारा विज्ञानाभिन्न होने के कारण अपनी ही तरह की अन्य पीतादि उपाधियों को प्रकाशित करने वाले 'नील' की प्रकाशमानता में स्वसंस्कारवश अविद्या के प्रभाव से संशय हो जाता है, उनके लिए तर्कसह न्याय का प्रयोग किया जाता है। यह न्याय ही प्रत्यक्षबाध आदि का निरूपण करेगा। प्रत्यक्षबाध का प्रतिपादन हो जाने पर विज्ञप्ति–व्यवहार होगा। विज्ञानवादियों के व्यापार की समाप्ति इतने मात्र से हो जाती है। लेकिन प्रत्यक्षबाधा ही माध्यमिकादि के अनुमान प्रयोग करने को मना करती है।

प्रश्न– अनुमान न सही, प्रत्यक्ष द्वारा विज्ञान व्यतिरिक्तता अथवा निःस्वभावता सिद्ध होगी ?

उत्तर– (प्रमाणासंप्लववादी बौद्धों के मत में) अनुमान सदा प्रत्यक्ष के अविषय में ही प्रवृत्त होता है। अनुमान के अनुदय की अपेक्षा करके प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं होता। परिणामस्वरूप अनुमान प्रत्यक्षतः सिद्ध अथवा बाधित विषय में सावकाश नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रमेय की बाधा के कारण स्वसंवेदन सांवृत नहीं है। (क्योंकि स्ववेदन का विषय स्वयं विज्ञान परमार्थ सत्य है, प्रत्यक्ष है। अनुमान तो भ्रान्त–पुरूषों को विज्ञाप्तिमात्रता बताने के लिए व्यवहृत होता है।)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्ववेदन में अनवस्था का परिहार –

पूर्वपक्ष– यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि यदि नील स्ववेदन के द्वारा सिद्ध है, तो उसे स्ववेदन के द्वारा और उसे भी अन्य स्ववेदन के द्वारा सिद्ध हुआ होना चाहिए, ऐसी स्थिति में अनवस्था की प्राप्ति होगी। वह (=स्वसंवेदन) स्वयं सिद्ध है। नील के विषय में स्ववेदन की कर्त्तव्यता क्या है ? जैसे कि जब यह कहा जाता है कि नील का भी स्ववेदन से वेदन होता है, तो वहाँ यही अभिप्राय है कि उसका स्वयमेव वेदन होता है। यही स्ववेदनवाद है; यह अश्वारूढ न्याय है।[20] यदि वह (=नील) स्ववेदन से भिन्न होता तो, न तो अनवस्था दोष से बच पाता और न ही स्ववेदनवाद का स्पर्श हो पाता। यदि कहें कि नील स्ववेदन से भिन्न नहीं है किन्तु प्रज्ञप्तिसत्[21] है और स्ववेदन का यह धर्ममात्र है तो नील के बाधन में स्ववेदन तटस्थ नहीं रह सकता; फिर वह उसकी पर से रक्षा कैसे कर सकता है ?

उत्तरपक्ष– नील की भी प्रकाशता है और प्रकाश की भी नीलता है; किन्तु धर्म और धर्मी की व्यवस्थिति किसी एक पर नियत नहीं है। अभेद में भी रक्षा को भी माना गया है। इसमें (=स्ववेदन में) भेद मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। पररक्षा, स्वरक्षा का नान्तरीयक है। वह हो भी सकता है और नहीं भी।

क्योंकि 'कोई चीज भासित होती है इसलिए बाधित नहीं है।' इस अर्थतत्त्व (वास्तविकता) का ही कुछ लोग परिहास करते हैं।

स्ववेदन में कारित्र (=स्वयं में कर्मकर्तृभाव) का निरास

प्रश्न– युक्तिवादिता के अभिमान से ग्रसित कुछ लोग (=मीमांसक और नैयायिक) कहते हैं कि 'अपने में कारित्र मानने में विरोध होने के कारण स्वसंवेदन नहीं है। भला अंगुली का वही अग्रभाग स्वयं अपना स्पर्श कैसे कर सकता है ?

उत्तर– इस पर हमारा कहना है कि अंगुली के अग्रभाग से यदि उसी अग्रभाग को स्पर्श नहीं किया जा सकता, तो उसके कोमल अथवा चिकना होने का ज्ञान कैसे होता है ? 'वह स्वयं कोमल है' यह कहना क्या प्रस्तुत प्रसंग में विरोधात्मक नहीं है।

'बुद्धि स्वयं भासित होती है' अथवा 'यह स्वयमेव कोमल है' अथवा 'यह स्वयमेव कोमल उत्पन्न है' इस प्रतीति से उत्पन्न वाक्यों के अर्थ की परिणति से क्या कारित्रविरोध की प्रतीति नहीं होती ? अथ च 'स्वयं जाता है'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'स्वयं गोरा है' इत्यादि कथनों में यदि प्रेरणा और अङ्गराग (=चन्दनादि अनुलेपन) का प्रतिक्षेप (=परिहार) कर दिया गया हो, तो ऐसे वाक्यों का सर्वथा प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। अथवा उस (=गन्ता और गौर पुरूष) के सन्निधान में अन्य को ऐसा बोलना ही नहीं चाहिए।

प्रश्न– सकर्मक–क्रिया में एक ही कर्म और कर्त्ता का प्रयोग उचित नहीं है। ज्ञानार्थक क्रिया सकर्मक ही होती है; जैसे– 'चैत्र नील को जानता है।'

उत्तर– यदि ऐसी ही बात है, तो

'ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है' इत्यादि कथनों में आप मौन रहें। परिणामस्वरुप विरोधी जिस 'वेद्यते' इत्यादि का प्रयोग कर्मकर्तृभाव[22] की विवक्षा में करता है हम उस प्रयोग को 'भासते'[23] (=प्रकाशित होता है) इस अर्थ में संकेतित करते हैं। कोई भेद नहीं है। यदि विरोधी की ओर से यह कहा जाय कि 'भगवान स्वयंभू हैं' इत्यादि के द्वारा प्रकृति, ईश्वरादि के व्यापार का निरास करने के द्वारा मात्र इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि अपने ही हेतुओं से तादृक् स्वरूप की उत्पत्ति होती है, भेदतः ज्ञात क्रियाकारक व्यवहार वहाँ पर अभिमत नहीं है, तो वहाँ पर हमारा कहना है कि 'बुद्धि भी अपने हेतुओं से प्रकाशरूप में उत्पन्न है और वह अन्य से प्रकाशित नहीं है, यह हमें संमत है, तो विद्वेष कैसा ?

इस ज्ञान की आत्मसंवित्ति यही है कि यह अजड़रूप है।[24] इसकी आत्मसंवित्ति क्रियाकारकभावरूप में नहीं होती।

'ऐसा मानने वालों का लोक ही बाधक होगा' यह आक्षेप भी इस कथन से निरस्त हो गया, क्योंकि लोक में इस प्रकार की विवक्षा को देखते(=पाते) हैं। यदि कहा जाय कि बुद्धि के विषय में ऐसी विवक्षा नहीं देखी जाती, तो हमारा कहना है कि वहाँ पर भी प्रकाशरूप व्यवहार में स्व और परप्रकाश की विवक्षा देखी जाती है जेसे– दीपक और घट। केवल बाह्य में (बाह्यर्थ के प्रसंग में) दोनों (=स्व और पर प्रकाश) का दर्शन होने पर भी ज्ञानाधिकार के कारण (अर्थात् ज्ञान में तो) पर प्रकाश्यता का बाध होने से स्वप्रकाशता को ही व्यवस्थापित किया जाता है। 'सर्वथा ऐसा व्यवहार नहीं होता' ऐसी बात नहीं है।

पूर्वपक्ष– ज्ञान के द्वारा ज्ञात करके यह कहा जाता है कि दीपक प्रकाशित हो रहा है। 'ज्ञान प्रकाशित हो रहा है' यह किस मित्र द्वारा कहा जा रहा है, अर्थात्, ज्ञान की प्रकाशता को कौन जानता है ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकाश अथवा अप्रकाश जब किसी के द्वारा दृष्ट नहीं है तो ज्ञान की स्वप्रकाशता, बन्ध्या की बेटी की क्रीड़ा के कथन के समान मिथ्या है।

ज्ञान की स्वप्रकाशता (=स्वसंवेदनता)

उत्तरपक्ष –

इस प्रकार की आशंका का कोई अवकाश नहीं है। 'यह नीलादिरूपज्ञान स्वप्रकाशस्वभाव ही है' यह व्यवस्थापित हो गया है, तो फिर,'यह किस मित्र द्वारा कहा जा रहा है' यह क्यों कहते हो ? स्वसंवेद्य अर्थ के विषय में परोपदेश ठीक नहीं होता। यदि ज्ञान को स्वप्रकाश न मानें, तो आपके व्यापकानुपलंभ अनुमिति ज्ञान में धर्मी कौन होगा ?

तब (=यदि ज्ञान स्वप्रकाश न हो तो) प्रदीप के प्रसंग (=प्रदीप की स्वप्रकाशता के साधन) में ज्ञान को ही दृष्टान्त कैसे बनाया जाता है ? विरोधी उत्तर देते हैं कि बात सही है किन्तु लोक की अपेक्षा से अलोक बाधक होगा यह दूर करने के लिए हमने ऐसा कहा है। विज्ञानवादी कहता है कि इस प्रकार युक्तिरहित कुछ भी कहकर विश्राम ले लेना आपकी रक्षा नहीं कर सकेगा। यदि लोक और अलोक परस्पर बाधक हों, तो सर्वशून्यता में ही लोक क्या बाधक होगा ? यदि आप (=विरोधी) कहें कि सांवृतिक दृष्टि से सब स्वीकार है, फलस्वरूप लोक बाधक नहीं होगा; तो हमारा कहना है कि आपके मतानुसार 'तत्त्वतः कुछ नहीं है' यह ही लोक को क्षम नहीं है। संवृति की दृष्टि से यदि नहीं है तो हो सकता है। यदि विरोधी कहे कि 'तत्त्वतः भी नहीं है' यह हमारे द्वारा क्या साधित किया जाता है, क्योंकि 'अस्ति' और 'नास्ति' का व्यतिक्रम (=उभय का निरास) हमे अभिमत है; तो हमारा कहना है कि, ऐसा नहीं है। 'अस्ति' का निषेध ही यहाँ अभीष्ट है, 'नास्ति' अर्थ स्वीकार्य नहीं है।

यदि नीलादि का भाव नहीं है, तो उसका अभाव किसके द्वारा वारित होगा ? यदि उसका अभाव नहीं है, तो फिर उसका भाव ही बचा रह जाता है।

चूँकि यह माना जाता है कि 'अस्ति और नास्ति' परस्परपरिहारलक्षण वाले हैं अतः एक की बाधा में अन्य का विधान निहित है। कहने वाले की अनिच्छा (=अविवक्षा) मात्र से अन्यथाभाव नहीं होता।

यदि इन दोनों के मध्य तृतीय प्रकार को कहा जाय, तो हमारा कहना है कि बुद्धिमान् 'अस्ति' और 'नास्ति' किसी एक में ही व्यवस्थित होते हैं। इससे कोई दूसरी स्थिति उनकी नहीं होती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पूर्वपक्ष– यह ठीक है, हम लोग किसी विधि या प्रतिषेध को सिद्ध नहीं करना चाहते। सत्, असत्, उभय और अनुभयवादियों के उनके स्व–अभ्युपगम के ही आधार पर उन–उन लक्षणों की अनुपपत्ति को हम प्रतिपादित करते हैं। अतः वहाँ पर यदि सत् लक्षण की अनुपपत्ति के द्वारा स्वयमेव पहले से ही सत्त्व का अभाव हो तो हमने वहाँ कुछ हटाया नहीं अर्थात् कुछ अवांछनीय स्थिति तो लायी नहीं। इसी प्रकार जब असत् लक्षण वाली अनुत्पत्ति के द्वारा यदि पहले से ही असत्त्वाभाव हो, तो अभाव के अभाव द्वारा किसी के भाव की कहाँ/कैसे स्थिति होगी? जैसे कि,

किसी कुमारी लड़की को स्वप्न में संकल्पतः पुत्र–उत्पत्ति की स्थिति में प्रीति होती है और इस विपत्ति से दुःख भी होता है, परन्तु जागने पर दोनों में कुछ भी विद्यमान नहीं होता। ऐसी स्थिति में कुमारी के सावशेष शोक और विनोद के लिए तत्प्रबन्ध (स्वप्न–सन्तान) के मृषात्व को यदि कोई जानता है तो क्या उस (=स्वप्न मृषात्व) ने किसी पुत्रादि,– अभाव का कोई विधान किया अथवा पुत्रादि के भाव का निषेध किया, अथवा पुत्रोदय के निषेध द्वारा किसी का अभाव अथवा मरण के निषेध द्वारा किसी प्रकार की भावविधि की; क्योंकि पुत्र का अभाव तो स्वयं पहले से ही था। जाग्रतावस्था तो उसका अनुवादमात्र है। इसी प्रकार आर्य और अनार्य के विषय में भी विचार करना चाहिए। इसे ही आगम में आदिशान्तत्व एवं प्रकृतिपरिशुद्धि (=प्रकृति भास्वर)[25] कहा गया है।

उत्तरपक्ष– आप द्वारा किस प्रकार के विधि–निषेध का परिहार किया जा रहा है– उत्पाद–विनाश लक्षण वाले अथवा हाँथ से पकड़ कर उपनय–अपनय स्वभाव वाले का ? अथवा विवादास्पदीभूत किसी धर्म का प्रमाण द्वारा साधनलक्षण विधि या बाधनलक्षण निषेध का ? इनमें से–

पहले के दो पक्ष अन्य के (दर्शन में) भी विद्यमान नहीं हैं। तृतीय पक्ष ऐसा है कि आप भी उसका परिहार नहीं कर सकते।

विरोधी भी ऐसा नहीं मानते कि भगवान् के पहले से स्थित प्रामाण्य का अपसारण किया जाता है अथवा ईश्वरादि में अविद्यमान प्रामाण्य को बाद में लाया जाता हैं। इसी प्रकार पहले से ही स्थित 'द्वय' को न तो हटाया जाता और न ही इस समय 'अद्वय' को लाया जाता है, स्थित स्वभाव का अन्य के द्वारा अनुवाद किया जाता है; अथवा किसी युक्ति से प्रतिपादित किया जाता है यह सर्वसंमति है। यह बात आपके लिए भी है, इसमें अतिरेक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की कौन सी बात कही जा रही है? इस प्रकार विधि और निषेध का यही क्रम (=व्यवस्था) है कि 'यह है' 'यह नहीं है' का प्रतिपादन किया जाय। यह बात विशेषकर उन लोगों के लिए लागू होती है, जो वचन–व्यापार में निरत हैं, जीतने की इच्छा से अथवा दूसरे की हितकामना से वाद–विवाद में प्रवृत्त हैं। जो चुप होकर बैठे हैं उनके लिए कोई पर्यनुयोग (=बाध्यता) नहीं है। स्वप्न का उदाहरण भी सर्वसाधारण है। जो वस्तुधर्म किसी के लिए आदरणीय और किसी के लिए निषेध्य होता है तो (आदर करने वाले को) उसकी सिद्धि से अथवा उसके गुणों के आरोप से प्रसन्नता होती है। दूसरा जब कोई उसके अभाव का प्रतिपादन करता है, तो दुःख होता है। ऐसी स्थिति में चित्त–विनोद (=हँसी मजाक) के लिए उद्यत किसी ने (यदि) कह दिया कि 'ऐसा पहले से ही नहीं है' तो उसका यह कथन अनुवादमात्र है।

उक्त विषय में जो उस तरह से प्रतिपादन कर सकता है उसी का अपने अनुकूल स्वप्न दृष्टान्त है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार स्वप्न में स्वाकारमात्र में ही (स्थित) पुत्र को जागरणकाल में फलिततया (=मेरा पुत्र था/है) आरोप करके हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अद्वयवाद में जाग्रत–अवस्था में भी ज्ञानाकारमात्र में ही बाह्य (तया) आरोप से क्षति नहीं है। इससे यह प्रतिपादित होता है कि दोनों दशाओं (=स्वप्न और जाग्रत) में निर्विकल्प–प्रतिभास स्वरूपमात्र पर्यवसायी है। (वह) विकल्प द्वारा अभूत (=अनुत्पन्न) आरोप का तिरस्कार कर देता है। वह (=विकल्प) स्वरूप का तिरोधान करके पररूप का ही दर्शन के साथ संयोजन करता है। चूँकि ऐसी बात है इसलिए 'मैंने आज स्वप्न में पुत्र देखा' कुछ विचार करने पर 'पुत्र दर्शन नहीं है अरे ! मेरा ज्ञानमात्र ही ऐसा उत्पन्न हुआ था' इस प्रकार के व्यवसाय (=निश्चयज्ञान) के द्वारा यह कहा जाता है कि 'वह (=कोई स्त्री) उत्पन्न और फिर मृत पुत्र को देखती है।' वास्तव में तो पुत्र दर्शन कहाँ है ? है तो केवल अनादिवासना के सामर्थ्य से तदभिनिवेश से प्रसवयोग्य विशिष्टाकार ज्ञानमात्रोदय ही। यहाँ पर केवल वस्तुतः तत्त्व क्या है?

विचारव्यसन वालों को हाँथ मलने से क्या लाभ ? (ऐसे लोगों के लिए उचित है कि वे) 'धर्मकीर्ति' के 'प्रमाणवार्तिक' और उसके ऊपर 'अलंकारभाष्य' में प्रेम से अभियोग करें।

श्रद्धावश होने पर भी 'युवराज कुमारनाथ'[28] का मत श्रेष्ठ है। इसी मत में 'आर्य नागार्जुन' आदि की भी व्यवस्थिति है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसका प्रतिपादन किया जायगा। आगम पाठ तो विचार में अकुशल के पुण्यमात्रोत्पत्ति के कारण हैं। विचार प्रक्रिया में भाव और अभाव में से एक का निषेध कहने वाले को द्वितीय का स्वीकार तो सामर्थ्य से ही प्राप्त हो जाता है। उसकी अनिच्छा रक्षा नहीं कर पायगी। इस प्रकार 'स्वप्न में पुत्र नहीं था' इससे पुत्र के भाव का निषेध एवं पुत्राभाव का विधान है। ऐसी स्थिति में जाग्रत (व्यक्ति) के द्वारा न तो विधि और न ही निषेध कैसे नहीं किए जाते ? आर्य (बोधिसत्त्व) को जो तथा दर्शन नहीं होता वह भी तदाकारदर्शन के प्रत्यनीक (=विरोधी) आकारज्ञान का उदय ही है; न कि सर्वथा संवित्ति–विलोप। बस यही है।

यदि कहें कि भावाभाव के विकल्प का निषेध विवक्षित है न कि सर्वथा प्रतिभासमात्र का लोप; तो यह अभीष्ट ही है, क्योंकि विकल्प स्वभावतः भ्रान्त है। यदि कहें कि विचाराक्षमता ही शून्यतार्थ है, तब तो विचार संवृत्याश्रय है और विचार में नियमतः प्रमाणों का अवतरण किया जाता है। प्रमाण तो स्वसंवेदन के अतिरिक्त न तो प्रत्यक्षान्तर (=इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं मानस प्रत्यक्ष) और न ही अनुमान हो सकते हैं; अन्यथा स्वरूपसत्ता से ही वियोग का प्रसंग होगा। धर्मी–धर्म–आदि की प्रतिपत्ति भी नहीं है, क्योंकि संवृति में नियत स्वाकार स्वसंवेदन का अन्य प्रमेय–प्रमाणों की भाँति बाधा की अनुपपत्ति अवस्थित है, परिणामस्वरूप ('विचारः संवृत्याश्रयः में) सांवृतत्व विशेषण का अवकाश नहीं है।

अर्थों का ज्यों–ज्यों चिन्तन होता जाता हैं त्यों त्यों विवेचन होता जाता है। लेकिन स्वसंवेदन का अतिक्रमण उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार दौड़ता हुआ व्यक्ति छाया का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में स्वसंविदितरूप की विचाराक्षमता कैसी ? कितने ही विचारों का प्रवर्तन हो, परन्तु नील प्रकाश की प्रकाशता अथवा नीलता का अतिपातमात्र (=आरोपमात्र) नहीं है; और न ही अप्रकाश–धर्मान्तर परिचय (=ज्ञान) का विषय है। और जो,

स्वरूपमात्रानुभव (ही) कल्पितों का पराभव है। वह ही, अनुपलब्धि और उपलब्धि की समता जाननी चाहिए। यह ही न्याय है।

यह ही आदिशान्तत्व, प्रकृतितः विशुद्धता और वैमल्य परिशुद्धि है, जो कि असत्कल्पना का क्षय है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह बताया जा चुका है। यद्यपि यह लक्षणानुपपत्ति उनके द्वारा स्वीकृत लक्षणों की ही है, फिर भी अनुभवस्वभाव का परिभव नहीं है; क्योंकि, भौतकल्पित(=भूतप्रेत द्वारा कल्पित) कल्परूप (=भ्रमस्वरूप) लक्षणों की हानि होने पर भी सर्वोपाधिविविक्त वस्तुरूप (विज्ञान) की हानि ही नहीं है।

राजद्वार में हाँथी को देखकर;

कोई दाँत से मूली को खाए हुए तथा अन्धकार का उत्सर्ग करते हुए बादल का टुकड़ा, तो किसी ने पिण्ड के समान पुरीष से बलि वाला, चार खम्भे की अटारी वाला द्वार कहा।

राजद्वार अथवा श्मसान में जो खड़ा रहे वह बन्धु है, तो गाढ़ स्मृति से अन्य विस्मरणरूपी प्रेत की बन्धुता ही मान्य है।[27]

इसलिए भूत–प्रेतों के समान जो विरोधी उनके द्वारा कल्पित स्वरूपों का ही विगलन (=विनाश) होता है। पुरः प्रकाशी (विज्ञान) का बाधा से क्या बिगड़ता है। फलस्वरूप,

यदि यही सिद्धान्त है, तो हम दोनों में भेद नहीं है। बाध में सर्वथा अभाव है। लोक से अबाधन कैसे ?

यदि विज्ञानरूप में 'नास्तिता' लोकानुरक्षा भी कही जाय, तो 'तत्त्वतः सर्वथा नहीं है' इसलिए उद्वेग की गणना क्यों नही ?

इस कारण 'लोक उद्विग्न हो या नहीं, परन्तु पुरुषार्थोपयोगी तत्त्वाख्यान का परिहार कैसे किया जा सकता है, यही आशय है तो अन्य को व्यर्थ में क्यों व्याकुल करते हैं ? सद् उत्तर में भी आपके शक्तिप्रतिबन्ध की श्रद्धा कौन करे ? (अर्थात् 'विज्ञानमात्र है' इस सदुत्तर में शक्ति–प्रतिबन्ध मानोगे तो कोई स्वीकार नहीं करेगा।) लोक में भी स्वप्रकाश का व्यवहार है इसलिए लोकबाधा भी कहाँ है ? बुद्धि (=विज्ञान) के ही अधिकार में साक्षात्रूप से देखने को नहीं मिलता तो भी इससे क्या ? दृष्टान्त तो सामान्यतया किया गया है कि 'स्वप्रकाश भी वस्तु है और कारित्रविरोध भी नहीं है।' और भी,

'मेरी ऐसी बुद्धि स्फुरित हो रही है' क्या ऐसा ज्ञान नहीं होता ? तुम्हारे गुणों को स्पर्श करने वाले संकल्प में मेरा स्वानुभव भी है।

इसलिए बालकों को उपलालन करना बन्द करें।

यह जो 'स्मरण से अनुभव की सिद्धि की आशंका करके अर्थ में ही स्मरण और अनुभव माने गयें है ज्ञान में नहीं' ऐसा कहा जाता है वहाँ भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'अर्थाकार ज्ञान ही है', वह स्वयं स्फुरित है और अनुस्मृत हो रहा है,' इस प्रकार कोई क्षति नहीं है। 'अर्थ में स्मरण' तो अननुभूत (अर्थ) का हो नहीं सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। 'अनुभव के अननुभव में अर्थ अनुभूत हो रहा है, यह हृदय से कैसे विश्वास किया जाय?

वित्ति की असंवित्ति में उस (=वित्ति) की उपाधि का व्यवहार नहीं हो सकता। यदि वित्ति की वित्ति पर से मानी जाय, तो हठात् अनवस्था प्रसरित हो जाती है। इससे ही अनुमितिमत[28] भी अपास्त हो जाता है, (क्योंकि) लिङ्ग का अभाव है। अदृष्ट (=अज्ञात) लिङ्ग हो नहीं सकता।[29] अज्ञात लिङ्ग से अधिगति की सिद्धि हो जाने पर विमति होगी।[30]

यह अन्तरश्लोक है।

तो फिर अनुभूयमान् ज्ञान इदन्तया(=बाह्यतया) निर्दिष्ट क्यों नहीं होता ?

निर्दिष्ट होता तो है–

(ज्ञान) अन्तः शातादि (=दुःखादि) विषय और बाहर शीतादि विषय होता है। वेदन तत्तदाकार है। उससे अन्य कुछ है भी नहीं।

'स्फुरत्व' इसका धर्म है। यह प्रत्यात्म दुरपह्नव है। वह '(स्फुरण) योग्यता' प्रमाण है, 'मेय' स्वरूप है, 'स्ववेदन' फल है।

तो निराकार पक्ष में यह (=ज्ञान इदन्तया= बाह्यतया निर्दिष्ट क्यों नहीं होता?) दोष हो सकता है। साकारपक्ष में तो शंका भी नहीं है। साकारपक्ष ही 'शान्तिदेवपाद'[31] को अभिमत है। वे कहते हैं कि,

इस (=विज्ञानवाद) में यथा–दृष्ट, श्रुत और ज्ञात का सत्यतः प्रतिषेध नहीं है। किन्तु यहाँ पर दुःख–हेतु–कल्पना का निवारण किया जाता है।

यहाँ पर 'सत्यतः=तत्त्वतः दृष्टादि का निषेध नहीं है' इस प्रकार के कथन द्वारा 'दृष्ट' आदि कर्मों के निर्देश से, 'प्रकाशमान नील और कोमलादि अशक्यापह्नव हैं' यह उक्त होता है। प्रश्न है कि फिर नैरात्म्य किसका ? (अर्थात् –'दृष्ट' शब्द से निर्दिष्ट कर्म, प्रकाशमान नील और कोमलादि यदि अशक्यापह्नव हैं तो नैरात्म्य किसका ?) उत्तर देते हैं कि कारिका में आए हुए 'कल्पना' शब्द का अर्थ है कि 'अभूत' (= जो है ही नहीं) ग्राह्य–ग्राहक, हेतु – फल आदि की कल्पना ही है (और) कल्पना अदृष्ट में ही होती है। अदृष्ट, अदृष्ट होने के कारण ही (तत्त्वतः) सम्भव नहीं है। इस प्रकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(कारिका में पठित) तत्त्वतः का सम्बन्ध यहाँ भी है। इसीलिए 'निःस्वभावाः सर्वधर्माः (=सभी धर्म निःस्वभाव हैं) इस वचन के होने पर भी यह भाव है कि 'कल्पित रूप का तत्त्वतः निषेध ही (नैरात्म्य) है।' अब प्रश्न करते हैं कि अभूत विकल्प का वारण क्यों किया जाता है ? उत्तर देते हैं कि दुःख का कारण होने से उसका वारण किया जाता है। दुःख–हेतु अभूतविकल्प प्रवृत्ति–निवृत्त्यादिलक्षण संसार का आक्षेप करता है। यदि यह न हो तो तदाकारोदय (=शीतशातादि आकारोदय) मात्र अकिञ्चित्कर है।

जो लोग उक्त कारिका में आए 'सत्यतः कल्पना' का 'सत्यत्वेन या कल्पना' (=सत्यता के रूप में की गयी कल्पना) अर्थ करते हैं, तो वहाँ (कल्पना के) सत्य होने पर भी 'यह सत्य है' इस प्रकार का विकल्प वारण होवे तो भी इससे परिनिष्पन्नता[32] में क्या दोष है? (अर्थात् कोई नहीं।)

पुनश्च यदि कहा जाय कि इस समय भी असत्त्व के कारण सत्याधिमोक्ष का वारण होता है, तो इसका उत्तर यह है कि उस स्थिति में भी 'दृष्टादि का प्रतिषेध नहीं होता' यह कहना व्याहत है क्योंकि आप सत्याधिमोक्ष वारण द्वारा असत्यता का आपादन तो करते हैं (किन्तु) दृष्टादि का प्रतिषेध नहीं करते (और) असत्यता का आपादन ही प्रतिषेध कहा जाता है। यदि आप कहें कि संवृति की दृष्टि से प्रतिषेध नहीं है, तत्त्वतः वारण तो है ही; तो हमारा उत्तर है कि उस स्थिति में आपका यह कथन भी अक्षरारुढ़ (=शब्दार्थ) नहीं है; क्योंकि 'सत्यतः' शब्द को आपने 'कल्पना' शब्द के विशेषण के रूप में लगाया है, जबकि वह उसके साथ संगत नहीं हैं केवल एक दृष्टादि ही संवृति और परमार्थ की अपेक्षा से विधि और निषेध के विषय के रूप में अभिमत है। तो ऐसी स्थिति में,

यथा दृष्ट, श्रुत और ज्ञात का यहाँ संवृति की दृष्टि से प्रतिषेध नहीं है, अपितु ये दृष्टादि दुःख के हेतु हैं इसलिए इनका तत्त्वतः निवारण किया जाता है।

यह कहना उचित है। तो यहाँ शब्द से शब्द की आवृत्ति हो रही है[33], संवृति शब्द का अध्याहार हो रहा है[34] और कल्पना शब्द की अन्यार्थता[35] है। श्रीमान् जी ! इस प्रकार से शब्दों को क्लेश क्यों दे रहे हैं। यह स्पष्ट है कि षडिन्द्रिय विज्ञान के गोचर (=विषय) आकारों का निषेध नहीं होता, क्योंकि वे स्वसंविदित हैं। कल्पित का ही निषेध होता है। भगवान् की तरह[36] इन आकारों के स्वसंवेदन का निषेध कैसे कर रहे हैं ? प्रश्न करते हैं कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आप भगवान् का ही दृष्टान्त क्यों देते है ? उत्तर है कि चूँकि दृष्टान्त भिन्न विषय का दिया जाता है और प्रस्तुत में जिसका निषेध न किया जा सके और वह स्वविदित आकार से भिन्न हो ऐसा उदाहरण अभीष्ट है। भगवान् ही ऐसे हैं इसलिए उनका उदाहरण दिया गया। एक तथा सूक्ष्म चित्राकार विज्ञान में भी जो ग्राह्य–ग्राहकभाव का प्रत्यक्ष माना जाता है वह क्रिया–कारक भाव के अभिप्राय से माना जाता है। इस प्रकार से यह न तो सर्वथा आशंका का और न ही परिहार के प्रयास का प्रयत्न समझना चाहिए। जैसे कि किसी का यह कथन कि,

जिस प्रकार एक ही भाव में कार्यकारणभाव की कल्पना की जाती है उसी प्रकार एक ही ज्ञान में ग्राह्य–ग्राहक का ज्ञान हो सकता है।

जैसे कि भगवान् का यह वचन है कि

यह अंकुर स्वयंकृत नहीं है।

आर्य नागार्जुनपाद का भी

न तो स्वतः न ही परतः

इत्यादि (कारिका से) निषेध का प्रयास, तथा

विभु चित्त को नहीं देखता

इत्यादि (कथन) युक्त ही है। 'स्कन्ध ही आत्मा है' की भाँति सांसारिक के समारोप की सीमा नहीं है, क्योंकि कारुणिक के द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और ग्राह्य–ग्राहक का आरोप प्रधान दोष है।

इसलिए क्रियाकारकभावतया निषेध युक्त ही है, किन्तु स्वसंविदितरूप के समुत्पाद का अनुशासन किया गया है।

जैसा कि 'आर्यसन्धिनिर्मोचन' में कहा गया है– 'मैत्रेय! कोई धर्म का ज्ञान नहीं करता, अपितु तथा (=धर्माकार) समुत्पन्न विज्ञान ही तथा (=तत्तदाकारतया) ज्ञात होता है। 'चित्त अर्थाभासरूप से प्रवृत्त होता है' यह स्वसंवेदन का ही निवेदन करता है, क्योंकि वेद्य और वेदक का एकीकरण होता है। उपरोक्त सन्दर्भानुसार ही नीलसमङ्गी का अर्थ है 'जो पुरुष नील को जानता है', क्योंकि 'अगि' धातु गत्यर्थक होने से ज्ञानार्थक है। नीलसमङ्गी कहने से 'नीलसंवेदी सन्' अर्थ प्रतिपादित किया जाता है।

'अप्रत्यक्ष–उपलम्भ (अज्ञात ज्ञान) की अर्थदृष्टि (=अर्थज्ञान अर्थात् अर्थाकारता) प्रसिद्ध नहीं होती।[38] यह स्पष्टतया व्यक्त होता है। तद्वेदी ही नीलवेदी है। उत्तरतंष में भी–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धर्म प्रत्यात्मवेद्य है।[39]

यही अक्षरार्थ है।

'अभूतपरिकल्प है' ऐसा कहने वाले को स्वसंवेदन से अन्यत्र शरण नहीं है। इस स्थिति में युक्ति और आगम के द्वारा स्ववेदन की सिद्धि में प्रतिबन्ध नहीं है।

आक्षेप– अस्वसंवेदनवादी/प्रमाणसंप्लववादी पूर्वपक्षी कहता है कि –

स्वसंवेदन भले माना जाय परन्तु स्व (=नील) को अलीक मानिए इससे जिस प्रकार क्षण और नीलक्षण में विरोध नहीं है वैसे ही (उनके ग्राही) प्रमाणों (प्रत्यक्ष और अनुमान) में भी विरोध नहीं होगा।[40]

इसका विवरण यह है कि अनुमानसिद्ध व्यावृत्त्यन्तर विशिष्ट का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होने पर प्रमाणों (प्रत्यक्ष और अनुमान) में भी विरोध नहीं होता; जैसे कि क्षणिक(=अनित्य) और अलीकता में विरोध नहीं है क्योंकि दोनों में निश्चय प्रत्यय का उदय नहीं होता। अनुमान और प्रत्यक्ष का विषय भेद सुस्पष्ट है क्योंकि अनुमान का विषय व्यावृत्त्यन्तरविशिष्ट है जबकि प्रत्यक्ष का विषय अविशिष्ट है।

समाधान– यह भी उचित नहीं है। नीलसत्ताग्राही प्रत्यक्ष का क्षणभङ्गसाधन ही उसकी सत्ता विशेष का साधन है अतः विरोध नहीं है। स्वसंवेदन में स्व की सत्ता को बाधित करते हुए स्वसंवित्ति की प्रेमयता को मानना कूर्मरोमवत् है। अतः यह स्थिति (=स्व की अलीकता मानते हुए स्वसंवेदन की प्रमेयता मानना) परस्परविरुद्ध है। पुनश्च अलीकता का साधक व्यापकानुपलंभ भी प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि, (स्वसंवदेन) अपने स्व को अलीक समझता है इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि स्व असत्–स्वभाव (=अलीक) है फिर भी स्फुरित हो रहा है। अरे ! हम तो स्फुरण को ही सत्ता मानते हैं। उस स्फुरणरूप विज्ञान का कैसा निषेध और कैसा विधान ?

इससे प्रतीत्योत्पन्नता को स्वभाव हेतु बनाकर प्रतिबिम्ब की भाँति निःस्वभावता का साधन करने वाले भी अपास्त हो गए।[41] और जो,

प्रतीत्योत्पन्नता को कार्यतामात्र कहा जाता है। वह कार्यता नित्यता की विरोधी है, अत एव नित्यता का ही बाध किया जाना चाहिए।

प्रश्न– और (यदि कहें कि)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अकृत्रिम स्वभाव, निरपेक्ष होता है और वह प्रतीत्योत्पन्नता से भी निरपेक्ष होता है। इस अभिप्राय से नित्य स्वभाव का ही बाधन होता है।

(इस पर कहते हैं कि) तो फिर इस प्रकार का आरोपित रूप वस्तु में जिसके द्वारा किया जाता है अर्थात् वस्तु (=विज्ञान) में रूप का आरोप जिसके द्वारा किया जाता है उसी का बाध होना चाहिए। क्षणभङ्ग की जो व्यवस्था है वह निर्बाध है।

ऐसी स्थिति में तो माध्यमिक, सौत्रान्तिक बन गया। महान साहस की बात हैं।

जिस आकाशादि में अकृत्रिमरूप स्वीकार किया जाता है वहाँ पर किसी भी प्रकार से प्रमासिद्ध प्रतीत्योत्पन्नता नहीं है।

अभीप्सित अर्थक्रियाकारी रूप में उपलब्ध घटादि की सत्ता मानी जाती है। आत्मादि वैसे नहीं है अत उनकी सत्ता नहीं है। इसके विपरीत कुछ लोग आत्मा की सत्ता मानते हैं।

यदि कोई कहे कि अनुपलम्भ के कारण आत्मादि की सत्ता नहीं है ? तो कहते हैं कि तब तो उपलम्भ को सत्ता का साधन मानना होगा; ऐसी स्थिति में शैल (=पर्वत) आदि असत् कैसे होंगे ? उनकी भी सत्ता मानिए। यदि इस पर कहा जाय कि,

सत्ता का साधन न तो उपलब्धि और न ही अनुपलब्धि है, तो कहते हैं कि यदि आप विरोधी माध्यमिक का यही समुचित उत्तर है, तो प्रतीत्योत्पाद से क्या लाभ? यदि आप कहें कि 'इस प्रतीत्योत्पाद से असत्ता का साधन होता है अतएव उपयोगी है' तो आपके मत में सर्वथा सर्वदा सत्ता की असिद्धि होने से असत्ता सिद्ध ही है यदि इस पर भी आप कहे कि 'मेरे मत में अनुपलम्भ असत्ता का साधन नहीं है। हाँ, विरोधी ऐसा स्वीकार करते हैं, तो हम उसका उपन्यास कर देते हैं। फलस्वरूप उपलब्धि से सत्ता की सिद्धि नहीं होती तो कहते हैं कि,

उत्तर– आत्मवादी को अनुपलम्भमात्र से अभाव अभीष्ट नहीं है, फलस्वरूप अन्य के द्वारा उस के अभीष्ट होने पर भी स्वाभ्युपगम का दोष उन पर (=आत्मवादी पर) नहीं लगाया जा सकता। अतएव यह अनुपलम्भ स्वतन्त्रहेतु (=आत्मवाद एवं अनात्मवाद से निरपेक्ष) माना जाना चाहिए।

(पूर्वोक्त गद्यांश के आकूत को अभिव्यक्त करते हुए ज्ञानश्री कारिका में कहते हैं कि उक्त प्रकार की स्थिति में तीन दोष होंगे) 1. सत्ता तो रहेगी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लेकिन संवित्ति द्वारा नहीं 2. असंवित्ति सत्ता की बाधक होगी 3. असत्ता का साधक अनुपलम्भ नामक हेतु स्वतन्ष होगा।

प्रतीत्योत्पाद द्वारा सिद्ध निःस्वभावशून्यता का खण्डन –

यहाँ पर कार्यता एवं निःस्वभावता के विपर्यय का बाधक जो प्रतिबन्ध(=व्याप्ति) का साधक हो; वह नहीं है।[42] उभय (=कार्यता एवं निःस्वभावता) के दर्शनमात्र से व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। प्रतिबिम्ब में स्वाभिमत निःस्वभावता सम्भव नहीं है क्योंकि प्रतिभास का निषेध नहीं किया जा सकता। यदि दृष्टान्तरूप प्रतिबिम्ब में साध्य को प्रसाधित करके साध्य–शून्यता (=साध्याभाव) का परिहार किया जाय, तो अन्य साधन बताना होगा। उसका भी दृष्टान्त साध्यशून्य होगा, फिर उसके साध्याभाव को दूर करने के लिए साध्यसिद्धि साधनान्तर से करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि माध्यमिक कहे कि प्रतिबिम्ब की निःस्वभावता अध्यवसित के निषेध का उपदर्शनमात्र है, तो उस स्थिति में जितने भी प्रतिभासी है जिन्हें माध्यमिक निःस्वभाव कहते हैं उन्हीं के साथ प्रतीत्योत्पन्नता की व्याप्ति होगी फलस्वरूप सिद्धसाधन की स्थिति उत्पन्न होगी। पुनश्च चूँकि कहीं पर इस तरह का हेतुफलभाव प्रमाणसिद्ध नहीं है अतः दृष्टान्त के साध्यशून्यता का दोष होगा।[43] यदि कहें कि पक्षधर्म हेतु की लोकाश्रय से सिद्धि हो जायगी, तो इस पर कहते हैं कि लोक का आश्रय करके शून्यता को जलाञ्जलि दीजिए। यह अर्धजरतीय[44] उचित नहीं है कि साधन में लोक का आश्रय माना जाय साध्य में नहीं।

प्रतिबिम्ब में लोकाश्रय से भी शून्यता दृष्ट है ? यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे, तो उस स्थिति में (वह) बिम्ब में साधन नहीं होगा, क्योंकि उसमें प्रतिबिम्ब के विपर्यय का दर्शन हो रहा है। कारण यह है कि जो प्रतिबिम्ब है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है इसलिए उसमें लोकाश्रित शून्यता है और जो तद्विपरीत बिम्ब है उसमें प्रतीत्यसमुत्पादाभाव होने से परमार्थता होगी फलस्वरूप उसका साधक नहीं होगा और प्रमाण से प्रतिक्षिप्त (=रहित) परमार्थ बिम्ब को पक्ष नहीं बनाया जा सकता; यह न्याय है। यदि कहें कि विपर्यय के अदर्शन में दर्शन का अभिमान है तो कहते हैं कि जिस प्रकार प्रतिबिम्ब में निःस्वभावता के अदर्शन में दर्शन का अभिमान आपको केवल लोक प्रमाणाश्रित है उसी प्रकार बिम्ब के विपर्यय में भी प्रमाण लोक ही है। यह लोक यदि बिम्ब में अप्रमाण है तो प्रतिबिम्ब में भी कैसे प्रमाण हो जायगा ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि कहें कि प्रतिबिम्ब में संवादाभाव ही प्रमाण है तो इस पर कहते हैं कि फिर जहाँ पर संवाद की स्थिति है वहाँ पर शून्यता का अभाव दुर्वार है, जैसे कि पर्वतादि। यदि कहें कि पर्वतादि में संवादाभिमान है तो फिर उस स्थिति में संवाद के यथा प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ को बताना होगा। जिससे कि प्रतिबिम्ब में उसका अभाव प्रतीत होता है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि पर्वतादि में प्रमाणनिरूपणासहत्त्व ही असंवाद है तो प्रमाण के निरूपण के क्रम में यह बताना होगा कि आप किस प्रमाण से निरूपण का अनुसरण करते हैं ? निश्चित ही प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दादि प्रमाण से भिन्न प्रमाण को बताना होगा परन्तु इनमें से किसी एक की भी सिद्धि स्वसंवेदन के विना नहीं होगी, और स्वसंवेदनाभाव में उक्त प्रमाणों की सिद्धि के लिए महान् परिश्रम करना होगा। फलस्वरूप स्वसंवेदनेतर प्रमाणान्तर का तिरस्कार कर देने पर भी पर्वत, समुद्रादि की सिद्धि स्वसंवेदन से ही हो जायगी। यदि कहीं प्रमाण–निरूपण से संवाद का उपलम्भ होता हो तो उस स्थिति में तदभाव (=प्रमाणनिरूपणाभाव) से संवाद की निवृत्ति हो भी सकती है, किन्तु ऐसा नहीं है। फिर भी दूसरे के कदमों के पीछे चलना ही एकमात्र शरण है। यह कहाँ का न्याय है? यद्यपि प्रसंगमात्र[45] से प्रमाणोपगम सहनीय है तथापि सर्वदा तो प्रसंग होता नहीं। विपर्यय के लिए ही प्रसंग को माना जाता है। यह आप के लिए क्षम (=सहनीय) नहीं है कि पराधीन होकर हेतु का उपन्यास किया जाय। सहनीय हो भी तो तात्त्विक अथवा सांवृतिक प्रमाण का आश्रय लेना होगा और दोनो ही स्थितियों में भूधरादि की सिद्धि मे प्रतिबन्ध (=व्यवधान, रूकावट) नहीं है।[46] हम विज्ञानवादियों के मत में तो विज्ञप्तिमात्र का व्यवहार ही अधिक है न कि प्रतिभासरूप की सिद्धि में कोई प्रतिबन्ध है और यदि पर्वतादि का असंवाद है (प्रमाण) निरूपणासहत्व तो फिर वही निःस्वभावता हो जाय। निःस्वभाव मानने के लिए प्रतीत्योत्पाद मानने की क्या आवश्यकता ?

अपि च, प्रतीत्यसमुत्पाद, शक्ति का नान्तरीयक है और शक्ति ही सत्त्व है अत एव निःस्वभावत्व साधन में विरोध दोष है।[47] यदि आप माध्यमिक मानें कि शून्य धर्मों से ही शून्य धर्म उत्पन्न होते हैं इसलिए दोष नहीं है तो, क्या आपके सिद्धान्त पाठ मात्र से दोषों का परिहार हो जायगा ? इस प्रकार से तो अतिव्याप्ति ही होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिससे जिसका जन्म होता है वह उसी में (=उसी को उत्पन्न करने में) शक्त (=समर्थ) है। शक्त होने पर भी निःस्वभावत्वकल्पना का कहाँ उपयोग है।

विज्ञानवादी के मत में तो पूर्वापर (=कार्यकारणभाव) का विरह ही तत्कल्पना (=निःस्वभावत्वकल्पना) के प्रतिघात का कारण है। इस प्रकार कोई दोष नहीं है। पुनश्च

हम विज्ञानवादी सर्व (=समग्र) प्रतीति के द्वारा[48] हेतुफलभाव की स्थिति का खण्डन करते हैं। परन्तु शून्यवादियों के लिए यह विधि विपरीत है।

परिणामस्वरूप प्रतीत्योत्पाद निःस्वभावता में कारण नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि प्रतीत्योत्पाद ही कभी–कभी व्यवहार–साधनरूप निःस्वभावता है तो उस दशा में आप 'कार्यतामात्रशून्यता है' इस च्युतस्थिति का कथन कर रहे होंगे। 'केवल सिद्धान्त बनाने वाले का कोई विरोधी नहीं है' ऐसा कहने से क्या लाभ ? अथवा स्वयं ही कृत्रिम में निःस्भावता को मानकर फिर उसके अभाव से स्वभाव की हानि बताने वाले को सींग से अश्वता की कल्पना करके फिर सींग के अभाव से अश्व के अभाव को भी मानना चाहिए। तो फिर आप के कथन –

"जो प्रतीत्यसमुत्पाद है वही शून्यता है।" की संगति कैसे होगी ? अधरपतन की स्थिति की अपेक्षा से अङ्ग (=कार्यता) द्वारा शून्यता के अवतरण के अभीष्ट होने पर भी इस प्रकार के साधन भी कभी प्रकृतिवादी (=प्रसंगानुसार बात करने वाले पुरूषों) में उपयोगी नहीं होते अथवा व्यापकानुपलम्भ की तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा अपगत–पौरूष वाले वे (=साधन) अङ्ग–निरूपण (=कार्यता के द्वारा शून्यता के निरूपण) के लिए समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में चूँकि निःस्वभावता है इसलिए कभी भी स्वसंवेदन की सिद्धि नहीं होती, यह कहने वाला निरस्त हो गया, क्योंकि निःस्वभावता को साधित करने वाले प्रमाणों के लिए कोई अवकाश नहीं है; इसका कारण यह है कि प्रथमतः प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिबन्धादि (=व्याप्त्यादि) का अभाव है और द्वितीयतः साधन रहित से की गयी सिद्धि मानने पर अतिव्याप्ति होगी। स्वप्रकाश (=विज्ञान) में अन्यानपेक्ष स्वप्रकाश–सिद्धि ही स्वसंवेदन की स्थिति मानी जाती है।[49]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि प्रतिवादी कहे कि आप मध्यममार्गी विज्ञानवादियों के मत में यदि किसी कि जड़स्वभावता सिद्ध होती तो तद्व्यावृत्त विज्ञान (=अजड़) की स्वसंवेदनता हो सकती थी ? विज्ञानवादी उत्तर देता है कि आपका यह आरोप केवल मुँह चिढ़ाना है। वह इस तरह से कि, विज्ञ योगाचारियों (=विज्ञानवाद) के मत में अज्ञान (=जड़) नहीं है न ही मध्यमा अशून्य है। फिर भी ज्ञान एवं शून्यादि का व्यवहार बाधित नहीं होता।

यदि विरोधी कहे कि सर्वथा (सभी प्रकार से) 'नास्ति' का अर्थ है– तद्व्यावृत्तिनिबन्धन ध्वनि का निषेध। इसका तात्पर्य यह है कि, 'नास्ति' से 'तद्' (=नास्ति) की जो व्यावृत्ति (=भिन्नता) उसकी निबन्धन (=उससे सम्बद्ध) जो ध्वनि (अस्ति) के निषेध का ही बोध होता है। तो इस पर कहते हैं कि तब तो आरम्भ से लेकर आज तक क्षणिक, निरात्मा, अनीश्वरकृत, अप्रकृतिमय आदि शब्दों का उन्मूलन हो जायगा। फलस्वरूप उसके निषेधरूप उक्त शब्दों के अव्यवहार की प्रसक्ति होगी।[50]

निर्विषय नञ् (=न/निषेध) का प्रयोग नहीं होता यह कहने वाला अपने वचन से ही तिरस्कृत हो गया, क्योंकि नञर्थ न मानने पर आप प्रतिपक्षी को बोध कैसे कराएंगे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि नञ् का विषय मानना होगा।

उपसंहार

इसलिए अतिघृणाकार ये बातें रहने दें। निष्कर्षतः स्वसंवेदन में दोष का लेशमात्र नहीं है इसलिए सांवृतत्व विशेषण को हटाकर[51] 'स्वसंवेदन ही है' 'अर्थात्, स्वसंवदेन पारमार्थिक प्रमाण है। यदि अभी भी आपके मन में अभिनिवेश शेष नहीं है।

स्वयं बोध (=स्वसंवेदन) में भी यदि बाधक की प्रवृत्ति मानेंगे तो उससे प्राप्त अन्य प्रमाणों में आश्वस्तता कैसे होगी? यदि कहें कि वहाँ आपत्ति के कारण हम स्वसंवेदन नहीं मानते तो विज्ञानवादी कहते हैं कि साक्षात् अनुभव (स्ववेदन) में कोई बाधा नहीं होती क्योंकि स्ववेदन सभी प्रमाणों की आधारभित्ति है।

परबोध तो तत्त्वतः असत् है फिर भी अभिमानमात्र की सिद्धि में यदि अनुमानान्तर से बाधित होता है तो बाधित हो लेकिन स्वरूपपर्यवसायि प्रत्यक्ष[52] स्वरक्षा में सक्षम नहीं है। यह सहनीय नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यहाँ सम्पूर्ण विचार संवृति में ही युक्त हैं। संवृति में कभी भी अनुभव–बाध क्षम(=सह्य) नहीं है।[53] तद् (=अनुभव/स्ववेदन) बोध के बाध होने की स्थिति में पर (=अन्य) अनुभूत नहीं होता।[54] अर्थात् स्ववेदन का बाधक कोई अन्य उपलब्ध नहीं है। बाध्य–बाधक भाव संवृति में होता है परमार्थरूप स्ववेदन में नहीं। संवृति में यदि बाध्य–बाधकभाव होता है तो हो। कलि से कलि का विनाश हो जाय। शान्ति मिले।।

।।इति महापण्डितज्ञानश्रीमित्रविरचित 'साकारसिद्धि' में ''स्वसंवेदन'' परिच्छेद का 'रामकृपा' अनुवाद पूर्ण हुआ।।

आराजी न. 315/1, गंगा प्रदूषण रोड
भगवानपुर, लंका, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

प्राक्कथन –

1. *आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय में कहा है कि –*
   सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
   न हि भिन्नावभासित्वेऽप्यर्थान्तरमेवं रूपं नीलस्यानुभवात् तयोः सहोपलम्भनियमा–द्विवचन्द्रादिवत्। न ह्यनयोरेकाकारानुपलम्भेऽन्योपलम्भोऽस्ति। न चैतत्स्वभावविवेके युक्तम् । प्रतिबन्धकारणाभावात्।.... .... नीलाकारसंवेदनयोस्तु नियम एव।
   Dharmkirti's Pramanvinischay : Chapters 1 and 2; critically edited by Ernst Steinkellner. CHINA TIBETOLOGY PUBLISHING HOUSE ; AUSTRIA N ACADEMY OF SCIENCE PRESS BEIJING—VIENNA 2007.
2. *यत्संवेदनमेव स्याद् यस्य संवेदनं ध्रुवम्।*
   तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततो वा न विभिद्यते।।
   यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः।
   नीलधीवेदनं चेदं नीलाकारस्य वेदनम्।।
   तत्त्वसंग्रह द्वितीय भाग (बहिरर्थपरीक्षा); कारिका 2029–30।।
3. *विषमोपन्यासोऽयं न ह्यात्मानं प्रकाशयत्यग्निः।*
   न हि तस्यानुत्रलब्धिर्दृष्टा तमसीव कुम्भस्य।।
   विग्रहव्यावर्तनी का. 35, पृ.–286
4. *नैवं प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः।*
   नैवं प्रकाश्यते घटादिवन्नैवं उद्योत्यते दीपः, यस्मान्न तमसावृतः, न अन्धकारपिहितः। विद्यमानस्यावरणस्य अपनयनं प्रकाशनम्, ततो युक्तं घटादीनां प्रकाशनम्, तेषां प्राग्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विद्यमानत्वात्। नैवं प्रदीपस्य, तस्य प्रागविद्यमानत्वात्। न च अविद्यमानस्य प्रकाशनं युक्तम्, असत्वात्। तस्मान्नैवं प्रकाश्यते दीपः। इति विसदृशत्वान्न प्रदीपदृष्टान्तात् साध्यसिद्धिः। –बोधिचर्यावतार, 9/18 पृ.–189।

5. यदि स्वात्मानमयं त्वद्वचनेन प्रकाशयत्यग्निः।
परमिव न स्वात्मानं परिधक्ष्यत्यपि हुताशः।। –वि. व्या. का., 36; पृ.–287

6. .... प्रच्छादयिश्यति तमः स्वपरात्मानौ हुताष इव।। –तत्रैव का., 37।।

7. विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद्बुद्धेर्द्विरूपता'। प्रमाणसमुच्चय –1/12

8. आद्यानुभवरूपत्वे द्वेकरूपे व्यवस्थितम्।
द्वितीयं व्यतिरिच्येत न परामर्शचेतसा।।
अर्थसंकलनाश्लेषा धीर्द्वितीयावलम्बते।
नीलादिरूपेण धियं भासमानां पुरस्ततः।। प्र. मा. 2/385–86.
अपि च,
संवेदनस्य तादात्म्ये न विवादोऽस्ति कस्यचित्।
तस्यार्थरूपताऽसिद्धा सापि सिध्यति संस्मृतेः।। तत्रैव 2/423

9. "एतदेव स्ववेदनं यदन्यागोचरत्वे सति प्रकाशनं नाम"।
(प्र. वा. अलंकार–भाष्य 2/468)।

10. स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते।
न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः।। (त.सं.; बहि.प.,का.– 2011)

11. विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता।। (तत्त्वसंग्रह– तत्रैव का.,1999)

12. "चित्तम् अर्थमात्रग्राहि ज्ञानम्। ..... नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्माम् आत्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात्। येन हि रूपेणात्मा संवेद्यते तद्रूपम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।" (न्यायबिन्दु धर्मोत्तरटीका– 01/10)।

हिन्दी रूपान्तरण –

1. समन्तभद्रत्व की व्याख्या के लिए देखें 'प्रमाणवार्तिक' का मंगलाचरणश्लोक। यदि स्ववेदन ही अलीक हो जायगा तो उससे सिद्ध साकारविज्ञान (=चित्राद्वैतविज्ञान) की बात ही क्या है? परिणामस्वरूप 'संक्लेशव्यवदान' प्रकरण में साकारविज्ञानरूप 'व्यवदान' की असिद्धि होगी जिससे समन्त =निरवशेष भद्र= कल्याण की स्थिति नहीं होगी।

2. परिस्फुरण (=प्रतिभास) ही सत्ता है।

3. 'यथात्मरक्षावहितो परः की जगह 'यथात्मरक्षावहितोऽपरः' पाठ होना चाहिए। तदनुसार कारिकार्थ किया गया है। 'अपरः' का अर्थ है– पर भिन्न 'स्वयम्'।

4. स्वविषय के ज्ञापक दो समर्थ प्रमाणों की स्वविषय में दृढ़ता इस प्रकार से होती हैं–जब अनुमानादि प्रमाणों से स्वविषय का ज्ञान होता है तो प्रमाता की प्रमेय विषय में प्रवृत्ति होती है। यदि प्रमाण सफल प्रवृत्ति हुआ तो वह प्रमाण एवं उसका विषय दृढ़

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

होगा, अन्यथा नहीं। चूँकि अर्थक्रियाकारिता स्वलक्षण में ही संभव है जिस पर प्रवृत्ति की सफलता एवं विफलता निर्भर है। स्वलक्षण, प्रत्यक्ष का विषय है। ऐसी स्थिति में अनुमान से ज्ञात विषय में प्रवृत्त मनुष्य जब (प्रत्यक्ष–विषय) स्वलक्षण में सफल प्रवृत्ति होता है तभी अनुमानादि की स्वविषय की दृढ़ता है अन्यथा नहीं और यदि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात प्रवृत्ति का विषय स्वलक्षण की प्राप्ति नहीं हुई तो अनुमानादि की स्वविषय में दृढ़ता नहीं है।

5. आचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह की कारिका में कहा है –

यत्संवेदनमेव स्यात् यस्य संवेदनमेव ध्रुवम,
तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततो वा न विभिद्यते।
यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः
नीलधीवेदनं चेदं नीलाकारस्य वेदनम्।।
(बहिरर्थपरीक्षा 23/2029–30)

जिस नीलाकार का नीलाकारवेदन से पार्थक्य नहीं है; जैसे कि तैमिरिकज्ञान प्रतिभासी द्वितीय चन्द्रमा का। वह (नीलाकार) नीलाकार–वेदन से अव्यतिरिक्त है। अनुमानाकार होगा– नीलाकारतद्धियौ अभिन्ने सहोपलम्भनियमात्, तैमिरिकज्ञान–प्रतिभासिद्वितीयोडुपवत्। नीलाकार और तद्विज्ञान (पक्ष) अभेद (साध्य) सहोपलम्भनियम (हेतु)।

यदि नीलाकारवित्ति और नीलाकार में अभेद नहीं होता तो दोनों का सहोपलम्भ नहीं होता। यथा कि,

न ज्ञानात्मा परात्मेति नीलधीवेदने कथम्।
नीलाकारस्य संवित्तिस्तयोर्नो चेदभिन्नता।। तत्रैव 23/2031।

उक्त कारिकाओं से यह अर्थ प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अनवस्थादि दोष के भय से ज्ञान स्वरूप में स्ववेदन है उसी प्रकार नीलाद्याकार भी उसके ही रूपवाला है तद्रूपतया भी वह स्ववेदन ही है। यहाँ पर अद्वय अनुमान से स्वप्रभव (स्ववेदन) का यही तात्पर्य है।

6. देखें पूर्व पैराग्राफ की अंतिम पंक्ति– 'भ्रमश्च परावित्तिनियत' इत्यादि।

7. नीलधीः न भ्रमः स्ववेदनात् स्वरूपज्ञानवत्। यहाँ पर नीलविज्ञान (पक्ष) भ्रम अभाव (साध्य) स्वसंवेदन होने के कारण (हेतु)। प्रतिषेध्य भ्रम के व्यापक परवेदन के अभाव होने से व्यापकानुपलंभ होगा।

8. पूर्वजन्म की कर्मावस्था संस्कार है। पूर्वभव की संतति पुण्य–अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था 'संस्कार' है।

देखें 'बौद्धदर्शन' आचार्य नरेन्द्रदेवकृत पृ. 22।

प्रकृत में तात्पर्य यह है कि जैसे किसी व्यक्ति के इस जन्म के पुण्य–अपुण्यादि कर्मावस्था के न होने पर भी श्रुत–संस्कारों (=पूर्व भवसंतति के पुण्यापुण्य कर्मरूप संस्कारों) का प्रक्षालन (=प्रायश्चित द्वारा मार्जन) कराया जाय, और कहा जाय कि सत्तामात्र से संस्कार रहते हैं। उनसे स्खलन (=अकार्य में प्रवृत्ति) होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

9. यदि सत्तामात्र से स्वसंवेदन भ्रम माना जाय तो चूँकि स्वसंवेदन विना जीवन नहीं चलता और स्वसंवेदन सत्तामात्र से भ्रम है तो फिर सम्पूर्ण जीवन में भ्रम से मुक्ति नहीं मिलेगी। भ्रम के कारण भी स्खलन होता है। मृत्यु ही इस भ्रम से मुक्ति दिला सकती है।
10. यह कथन व्यंग्य में कहा जा रहा है।
11. सर्वे धर्माः निःस्वभावाः स्वपरादिहेत्वनुपपत्तेः प्रतीत्योत्पत्तेर्वा। सभी विज्ञानादि धर्म (पक्ष) निःस्वभावत्व (साध्य) स्वपरहेत्वनुपपत्ति अथवा प्रतीत्योत्पत्ति (हेतु)। यहाँ पर प्रतिषेध्य जो स्वभावत्व, उसके व्यापक स्वपरादिहेतु द्वारा उत्पत्ति की अनुपपत्ति अथवा प्रतीत्योत्पत्ति द्वारा अनुपलब्धि है उसी कारण निःस्वभावता व्यापकानुपलब्धि से साध्य है।
12. हम विज्ञानवादियों के यहाँ स्वसंवेदन से और आपके यहाँ व्यापकानुपलब्धि से साध्य निःस्वभावता के विप्लव, सत्तामात्र से विप्लव हैं।
13. स्वसंवेदन एक अखंड का ग्राही ज्ञान है। व्यापकानुपलंभ सम्बन्धादि का ग्राहक है। परवेदन भी सखण्ड है, सम्बन्धग्राही है। ऐसी स्थिति में व्यापकानुपलंभ और परवेदन एक विषय हुए। व्यापकानुपलंभ समानविषय परवेदन को ही बाधित करेगा न कि भिन्नविषय स्वसंवेदन को।
14. 'सर्वे प्रत्ययाः भ्रान्ताः परवेदनात्' इस अनुमान से सभी ज्ञानों का भ्रान्तत्व सिद्ध है। 'सर्वे प्रत्ययाः अभ्रान्ताः परवेदनात्' इस अनुमान से अथवा 'सर्वे प्रत्ययाः सम्यक् प्रत्ययाः परवेदनात्' से ज्ञानों का भ्रान्तत्व ही भ्रान्ततया सिद्ध है। 'परवेदन' नामक एक ही हेतु प्रत्ययों का भ्रान्तत्व और अभ्रान्तत्व सिद्ध कर रहा है। यदि वह भ्रान्तता साधन में प्रमाण है तो अभ्रान्तता साधन में प्रमाण क्यों न होगा?अथवा इसका तात्पर्य यह है कि आपके द्वारा साधनीय सभी ज्ञानों की भ्रान्तता को ही सिद्ध करने के लिए हम पूर्वोक्त अभ्रान्तता का अनुमान देंगे। वह आपके अनुमान की दृष्टि से परवित्ति है उसे प्रमाण मानना होगा इससे सभी ज्ञानों की अभ्रान्तता सिद्ध हो जायगी।
15. अद्वय अनुमान और उससे उत्पन्न स्वसंवेदन के फलस्वरूप प्राप्त अनुमान 'सर्वे प्रत्यया अभ्रान्ताः स्वसंवेदनात् स्वस्वरूपप्रकाशवत्' सभी विज्ञान अभ्रान्त हैं स्वसंवेदन होने के कारण, जैसे कि, स्वरूप का विज्ञान।
16. प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि व्यापकानुपलंभ और स्वसंवेदन में पौर्वापर्य है। अतः व्यापकानुपलंभ से निःस्वभावता और निराकारता सिद्ध हो जाने पर स्ववेदन का अवकाश नहीं है।
17. उत्तरकर्त्ता का आशय यह है कि ऐसा नहीं है। प्रत्येक वित्ति स्वयं में स्ववेदन है। परिणामस्वरूप व्यापकानुपलंभ के लिए ज्यों ही प्रतिज्ञा वाक्य बोलेंगे– 'ज्ञानम् अनाकारम्' अथवा 'विज्ञानं निःस्वभावम्' त्यों ही स्वसंवेदन द्वारा उसकी साकारता सिद्ध हो जायगी जिससे प्रतिज्ञा का खण्डन हो जायगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

18. नीलम् विज्ञानं प्रकाशमानात् ज्ञानस्वरूपवत्। नील (पक्ष) विज्ञानता (साध्य) प्रकाशमानत्व (हेतु) ज्ञानरूप (दृष्टान्त)। इस अनुमान से नीलादि की विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध होती है; फलस्वरूप 'सकल जगत् विज्ञानरूप (=विज्ञप्तिमात्र) है' विज्ञानवादियों का यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।
19. जिस प्रकार एकज्ञानसंसर्गी वस्त्वन्तर के प्रत्यक्षतः दर्शन हो जाने पर घटादि के अभाव का प्रत्यक्ष हो जाता है फिर भी अनुपलब्धि हेतुक अनुमान से घटादि के अभाव का व्यवहार सिद्ध होता है उसी प्रकार प्रकाशमानता हेतुक अनुमान से विज्ञप्तिमात्रताव्यवहार की सिद्धि हो जायगी।
20. जैसे घोड़ा स्वयं ही स्वयं पर आरूढ़ हो जाय तो वह 'अश्वारूढ़न्याय' होगा। यह स्वसंवेदन स्वयं से स्वयं को जानता है। अतः उसमें अश्वारूढन्याय घटित होता है। इसको ही अन्यत्र कहा गया है– जैसे कुशल नट स्वयं के कन्धों में आरूढ़ हो जाय; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। यह पूर्वपक्षी का आशय है।
21. देखें 'बौद्धदर्शनप्रस्थान' पृ.–100। लेखक– प्रो. रामशंकर त्रिपाठी।
22. पा. सू. 03/01/87
23. 'भास्' भासने धातु के लट्लकार प्र. पु. ए. व. कर्तृवाच्य का प्रयोग है– 'भासते'।
24. तत्त्वसंग्रह कारिका– 1999।
25. मतञ्च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोषदूषितम्'
न धर्मताचित्तमृतेऽन्यचेतसः प्रभास्वरत्वं प्रकृतौ विधीयते'। (म.सू. 13/19)
सी. डी. शर्मा– । critical servay of indian philosophy पेज न. 112
26. ज्ञानश्रीमित्र, युवराज कुमारनाथ नाम के दिङ्नाग के सहायक आचार्य का नामोल्लेख करते हैं। उनके मतों का संग्रह भी करते हैं। ज्ञानश्रीमित्र अपने निबन्धों में उनके मत की रक्षा भी करते हैं। यह साकारविज्ञान कुमारनाथ की उद्भावना है ऐसा भी उनका कथन है।
युक्त्यागमोक्तियुवराजनयानुगोऽयमध्वेति साकृतिनये निहितः प्रवादः।
वादस्थिताविति विवादिमतक्रमेण लेखाविधेस्तु स नयोऽजनि विप्रकीर्णः।।
(सा.सं.सू. 01/07)
एवञ्च उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया है कि यह मत वार्तिककार धर्मकीर्ति और अलंकारभाष्यकार प्रज्ञाकर की देन है किन्तु कुछ लोगों ने उसे निराकारपक्ष में लगाया है। यथा कि,
जीयान्मुनीन्द्रमतवार्तिकभाष्यकारः साकारसिद्धिनयनाटकसूत्रधारः
(सा.सि.शा. 1 प्रथमपरि. श्लोक)

तथा च–
साक्षात्ख्यातकुमारमूर्तिमहिते मञ्जुश्रियां शास्तरि
प्राप्योद्भेदमिदं पदं प्रति शिशुक्रीडानुकारेऽपि यत् ।
(सा.सि.शा. षष्ठपरि. का अन्तिमश्लोक)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसका निष्कर्ष यह है कि दिग्नाग के समकालीन कुमारनाथ का साकारविज्ञानवाद, वार्तिककार और प्रज्ञाकर के द्वारा विस्तार को प्राप्त हुआ किन्तु कुछ लोगों ने उसे निराकार विज्ञानवाद परक ही समझा। ज्ञानश्रीमित्र ने अपने 'साकारसिद्धिशास्त्र' और 'साकारसंग्रहसूत्र' के माध्यम से उस साकारविज्ञानवाद को सुदृढतया स्थापित किया।

27. इसका तात्पर्य यह है कि राजद्वार में अपमान और दण्ड मिल सकते हैं। श्मसान में प्रिय–वियोग जन्य दुःख प्राप्त होता है। ये दोनों यदि हमेशा ज्ञात होकर रहें तो जीना मुश्किल हो जाय। इनका भूल जाना ही अच्छा है। धन्य है उस गाढ़स्मृति विरोधी विस्मरणरूप प्रेत का जो इन्हें भुलवा देता है।

28. ज्ञातता लिङ्ग वाले अनुमान से प्रकाश (=विज्ञान) का प्रकाश मानने वाले मीमांसकों एवं अनुव्यवसाय से व्यवसाय ज्ञान का प्रकाश मानने वाले नैयायिकों के मत में भी अनवस्था दोष होगा।
देखें– 'संवित्स्वप्रकाशवाद' पृ. 40 से 53 एवं 78 से 95 तक। लेखक–आनन्द मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन–दिल्ली।

29. लिङ्ग ज्ञात होकर ही अनुमिति का कारण होता है अर्थात् जिस धूमादि लिङ्ग की वह्न्यादि साध्य के साथ महानसादि में व्याप्ति गृहीत है वही धूमवह्न्यनुमिति का लिङ्ग होता है, अन्यथा नहीं।

30. यदि अज्ञातलिङ्ग वहन्यनुमान का कारण हो तो विमति =भ्रम होगा, अनुमिति नहीं।

31. 'बोधिचर्यावतार' के लेखक 'शान्तिदेव' ने नवें अध्याय में 'स्ववेदन' का विचार किया है। देखें– 'बोधिचर्यावतार' एवं 'पंजिका'।

32. 'बौद्धदर्शनप्रस्थान' पृ. 121। प्रो. रामशंकर त्रिपाठी के.उ.ति.शि. संस्थान सारनाथ वाराणसी।

33. यथा–श्रुत–दृष्ट आदि का सांवृतिक दृष्टि से निषेध नहीं होता : अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से होता है। उसका तात्पर्यार्थ (= अर्थतः प्राप्त अर्थ) को ही 'तत्त्वतस्त्वेतद्दुःखहेतुर्निवार्यते' से कहा गया है।

34. 'यथादृष्टं श्रुतं — प्रतिषिध्यते' का अर्थ कर लेने पर 'संवृत्या' शब्द को लाया जा रहा है। तब पूर्ण अर्थ निकलता है। यही 'संवृत्या' शब्द का अध्याहार है।

35. कल्पना का विशेषण है –सत्यतः ; अर्थात्–सत्यतः कल्पना। उसी अर्थ में 'तत्त्वतः' शब्द का प्रयोग है इसलिए कहते हैं कि 'कल्पना' शब्द का अन्यथा अर्थ किया गया है।

36. देखें मूल पृ. – 473 प्रारम्भ।

37. गत्यर्थक सभी धातुएं ज्ञानार्थक मानी जाती हैं।

38. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति।।
प्रमाणविनिश्चय 1/54

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

china Tibetology publishing house Austrian Academy of Sciences Press, Beijing – viena – 2007

39. यो नासन्न च सन्न चापि सदसन्नान्यः सतो नासतो
Sशक्यस्तर्कयितुं निरूक्त्यपगतः प्रत्यात्मवेद्यः शिवः।।
उ. त.–01/09 पृ.–10
Sri Satguru publication, A divison of Indian Book Centre Delhi-

40. जिस प्रकार क्षणिकत्व का साधन अनुमान से एवं नीलक्षण का प्रत्यक्ष (= स्वसंवेदन) से होता है और उनमें विरोध नहीं है उसी प्रकार नील की अलीकता का साधन अनुमान से एवं विज्ञान का साधन स्वसंवेदन से करने पर उनमें विरोध नहीं है।

41. नीलादिः निःस्वभावः प्रतीत्योत्पन्नत्वात्, प्रतिबिम्बवत्। नीलादि (पक्ष) निःस्वभावता (साध्य) प्रतीत्योत्पन्नत्व (हेतु) प्रतिबिम्ब (उदाहरण)। यहाँ प्रतीत्योत्पन्नत्व स्वभाव हेतु है।
बोधिचर्यावतार में पृ. 173 में उद्धृत (मध्यमालंकार कारिका–1)
निःस्वभावा अमी भावास्तत्त्वतः स्वपरोदिताः।
एकानेकस्वभावेन वियोगात्प्रतिबिम्बवत्।।
एवं हि निःस्वभावतैव सर्वभावानां निजं पारमार्थिकं रूपमवतिष्ठते।

42. प्रतीत्योत्पन्नत्व (= कार्यत्व) हो किन्तु निःस्वभावत्व न हो इस विपर्यय का बाधक जो कि व्याप्ति का साधक हो वह नहीं है। विपर्यय बाधक ही व्याप्ति का साधक होता है। उसके अभाव में व्याप्ति संशयास्पद होगी।

43. यथा ज्ञात है कि हेतु तीन प्रकार के होते हैं– 1. स्वभाव 2. कार्य और 3. अनुपलब्धि। अनुमान में दृष्टान्त में साधन का ज्ञान होता है और पक्ष में साध्य का। कार्य हेतु में कहीं पर जब तक कार्यकारणभावापन्नतया कार्य का ज्ञान नहीं होगा तब तक वह दृष्टान्त में साधन नहीं माना जायगा। साधन विहीन दृष्टान्त में व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा। अगृहीत व्याप्ति वाला साधन, साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

44. जिस प्रकार किसी स्त्री का आधा शरीर युवती का एवं आधा वृद्धा का नहीं हो सकता उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में साधन में लोकाश्रय का आश्रय और साध्य में लोकाश्रय का न माना जाना निश्चित ही 'अर्धजरतीय' न्याय का अनुकारी है।

45. माध्यमिक दो प्रकार के होते हैं– 1– स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं 2– प्रासंगिक माध्यमिक। 'स्वातन्त्रिक' और 'माध्यमिक'– यह नामकरण भोट देश के विद्वानों द्वारा किया गया है। स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार ये लोग व्यवहार की स्थापना प्रायः सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार करते हैं। इनके मतानुसार व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता मान्य है। व्यवहारार्थ ये प्रमाण भी स्वीकार करते हैं। आचार्य 'भावविवेक' या 'भव्य' एवं 'ज्ञानगर्भ' आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं।
जो माध्यमिक केवल 'प्रसंग' (देखें 'हेतुबिन्दुप्रकरणम्' हिन्दी व्याख्या पृ. 86 से 88 लेखक–डॉ. वृजकिशोर त्रिपाठी; सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि. वाराणसी) का प्रयोग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करते हैं वे प्रासंगिक माध्यमिक कहलाते हैं। प्रासंगिक माध्यमिकों के अनुसार चूँकि सभी धर्म शून्य हैं तो फिर शून्यता को साध्य बनाकर उसे हेतु प्रयोग द्वारा सिद्ध करना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में जो दार्शनिक हेतुओं के द्वारा वस्तु सत्ता सिद्ध करते हैं उनके प्रयोगों में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया जाय कि उनके साधन, साध्य को सिद्ध नहीं कर सकते, अत एव स्वभावसत्ता की सिद्धि न होने पर निःस्वभावता की सिद्धि होगी। फलस्वरूप परपक्ष का निराकरणमात्र माध्यमिक को करना चाहिए। परपक्ष निराकरणमात्र पर बल देने के कारण ये लोग प्रासंगिक माध्यमिक कहलाते हैं। आचार्य 'चन्द्रकीर्ति' इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रासंगिक माध्यमिक के अनुसार कहा जा रहा है कि प्रसंगानुसार हम आपके प्रमाण को मान भी लें क्योंकि हमारा अपना कोई प्रमाण नहीं है।

46. विज्ञानवादी प्रासंगिक माध्यमिकों के मत में दोष देते हैं कि चाहे आप वस्तुतः तात्त्विकरूप से या सांवृतिकरूप से प्रमाण मानें, उभय स्थितियों में पर्वतादि की वस्तुसत्ता सिद्ध हो जायगी। आपका निःस्वभावत्व कैसे सिद्ध होगा।

47. एक ओर सत्त्व शक्तिसम्पन्न है और दूसरी ओर उसे निःस्वभाव कहना विरूद्ध कथन है।

48. विज्ञानवादी स्वसंवेदन द्वारा पूर्वापर रहित समग्र का ज्ञान करता है। यही उसके साकारविज्ञानवाद अथवा चित्राद्वैतवाद का मूल है। उसमें हेतुफलभाव (=कार्यकारणभाव) की स्थिति नहीं है।

49. देखें 'बौद्धप्रमाणमीमांसा; प्रत्यक्ष के विशेष सन्दर्भ में'
लेखक प्रो. हरिशंकर सिंह पृ. 47 से 71 एवं 305 से 332।
एवं देखें– अलंकारभाष्य – 02/426।

50. बौद्ध लोग जब अक्षणिक, आत्मा, ईश्वरकृत और प्रकृतिमय आदि शब्दों का अर्थ ही नहीं स्वीकार करते तो तद्व्यावृत्तिनिबन्धन क्षणिकादि शब्दों का व्यवहार कैसे होगा?

51. नागार्जुन एवं प्रासंगिक माध्यमिक परमार्थतः सभी धर्मों को प्रपञ्चात्मक एवं निःस्वभाव मानते हुए भी, लोक में वस्तुओं की जैसी सत्ता मानी है संवृति के क्षेत्र में उसी प्रकार की सत्ता मान लेते हैं। सभी प्रमाण–प्रमेयों की व्यवस्था सांवृतिक है। उन्हीं के खण्डन में कहते हैं कि 'सांवृतत्व' विशेषण हटा देना चाहिए।

52. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अखण्ड का बोधक है। स्वरूपपर्यवसायि है। वह स्वरक्षा में सर्वथा सक्षम है।

53. संवृति कभी भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षानुभव को बाधित नहीं कर सकती।

54. बाधक ज्ञान भी स्वस्वरूप के ख्यान के लिए स्वसंवेदन का मुखापेक्षी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection